इस्लामी अर्थशास्त्र

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह॰)
उर्दू संकलन
प्रोफ़ेसर ख़ुर्शीद अहमद
हिन्दी प्रस्तुति
डॉ॰ सैयद फ़रहत हुसैन
(एम॰ कॉम, पी-एच॰डी॰)

विषय-सूची

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

"अल्लाह के नाम से जो अत्यन्त दयावान, बड़ा कृपाशील है।"

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक इस्लामी जगत के जाने-माने विद्वान मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०) के आर्थिक विषयों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण लेखों का संग्रह है। इनमें इस्लाम के आर्थिक सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं की सुन्दर व्याख्या के साथ वर्तमान युग की आर्थिक समस्याओं के समाधान में उनकी प्रासंगिकता एवं भूमिका को अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवं तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह बहुमूल्य संकलन उर्दू में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० ख़ुरशीद अहमद ने तैयार किया है।

यह पुस्तक वास्तव में अर्थ-विज्ञान (Economic Science) की पुस्तक नहीं वरन् आर्थिक दर्शन (Economic Philosophy) का एक मार्ग खोलनेवाली पुस्तक है। इसमें उन प्राथमिक प्रकरणों पर चर्चा की गई है जिन्हें अर्थशास्त्र के विद्वान सामान्यतया छोड़ देते हैं तथा जिनके बारे में ग़लत अवधारणा के कारण वे आगे के राजमार्गों पर हर क़दम में ठोकरें खाते चले जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि 'पहले-को-पहले' की चर्चा करनेवाले इस पर भी अमल करें और ज्ञान के हर क्षेत्र में करें, ताकि आगे की मन्ज़िलें आसान हो सकें। आर्थिक विचारों में जिन क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है, उनका आरम्भिक बिन्दु ऐसे ही प्रयास हो सकते हैं और इसी आधार पर हम इसे एक मार्ग खोलनेवाली पुस्तक घोषित कर रहे हैं।

इस पुस्तक के अधिकांश लेख पहले से हिन्दी में प्रकाशित हो रहे थे। कुछ लेखों का हिन्दी अनुवाद मैंने कर दिया। इस तरह यह पुस्तक तैयार करके पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जा रही है। जिसका मुझे अपार हर्ष एवं सन्तोष है। मुझे विश्वास है कि अर्थशास्त्र में रुचि रखनेवाले समस्त महानुभाव इस संकलन को पसन्द करेंगे तथा इस्लाम के आर्थिक विचारों (Economic Thoughts) को समझने और वर्तमान समस्याओं के एक

वैकल्पिक समाधान के रूप में अध्ययन के लिए प्रस्तुत पाठ्य सामग्री अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी।

यहाँ इस बात का उल्लेख भी आवश्यक मालूम होता है कि इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली) हिन्दी भाषा में इस्लाम और मुसलमानों से सम्बन्धित पुस्तकें तैयार करने के काम में लगा हुआ है। यह शुभ कार्य भी इसी ट्रस्ट के द्वारा सम्पन्न हुआ, इसपर हम ख़ुदा का शुक्र अदा करते हैं और दुआ करते हैं कि यह पुस्तक देश और देशवासियों के लिए शुभ साबित हो। ईश्वर हमारी मदद करे। इस पुस्तक की तैयारी में पूर्ण प्रयास किया गया है कि भाषा और प्रूफ़ आदि की कोई ग़लती न हो फिर भी अगर पाठक कोई ग़लती पाएँ तो प्रकाशक को अवश्य सूचित करें। हम आपके आभारी होंगे।

–डॉ० फ़रहत हुसैन

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

"अल्लाह के नाम से जो अत्यन्त दयावान, बड़ा कृपाशील है।"

दो शब्द

यह मेरे उन लेखों का संग्रह है जो पिछले 30-35 साल के दरमियान विभिन्न अवसरों पर मैंने इस्लाम के आर्थिक सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं की व्याख्या करते हुए लिखे हैं और जीवन की वर्तमान समस्याओं पर ये किस तरह चरित्रार्थ होंगी इसके बारे में विस्तृत वार्ता की गई है। ये लेख समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। एक मुद्दत से मैं यह ज़रूरत महसूस कर रहा था कि इन लेखों को जमा करके एक जगह पुस्तक रूप में संकलित कर दिया जाए, ताकि आम पाठकों के सामने भी इस्लामी आर्थिक व्यवस्था का पूरा चित्र आ जाए, और इस्लाम तथा आर्थिक-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए भी यह एक पाठ्य-पुस्तक या सहायक पुस्तक के तौर पर काम आ सके। मगर अपनी विभिन्न व्यस्तताओं के कारण मैं आज तक इसका अवसर न पा सका। मैं प्रोफ़ेसर ख़ुरशीद अहमद साहब का बहुत आभारी हूँ कि उन्होंने बड़ी मेहनत और ध्यानपूर्वक यह संग्रह ऐसी विशेषता के साथ संकलित कर दिया है कि मैं स्वयं भी इससे बेहतर संकलन नहीं कर सकता था। मैंने पूरी किताब का पुनर्विलोकन करके इसमें ज़रूरी सुधार और बढ़ोत्तरी कर दी है। मुझे उम्मीद है कि यह पुस्तक उस मक़सद के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगी जिसके लिए ख़ुरशीद साहब ने यह सेवा की है।

3 मार्च, 1969 ई०

—अबुल-आला

प्रस्तावना

यह मौलाना मौदूदी (रह०) के उर्दू भाषण 'इस्लाम का इक़तिसादी निज़ाम' का हिन्दी रूपान्तर है, जिसे विषय की अनुकूलता के कारण पुस्तक की प्रस्तावना के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। –संकलनकर्ता

इनसान के आर्थिक जीवन को इनसाफ़ और सच्चाई पर बनाए रखने के लिए इस्लाम ने कुछ सिद्धान्त और मर्यादाएँ निश्चित कर दी हैं, ताकि धन के उत्पादन, उपयोग और वितरण (Distribution) की सम्पूर्ण व्यवस्था उन्हीं सीमा-रेखाओं के अन्तर्गत चले जो उसके लिए खींच दी गई हैं।

धनोपार्जन की विधियाँ और उसके वितरण के रूप क्या हों, इस्लाम इस विषय पर कोई तर्क-वितर्क नहीं करता। ये चीज़ें तो विभिन्न युगों में सभ्यता के विकास के साथ-साथ बनती और बदलती रहती हैं। उनका निर्धारण मानव की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार खुद ही हो जाता है। इस्लाम सिर्फ़ यह चाहता है कि सभी युगों और परिस्थितियों में मानव की आर्थिक क्रियाएँ जो रूप भी धारण करें, उनमें ये सिद्धान्त स्थायी रूप से लागू रहें और निर्धारित प्रतिबन्धों का अनिवार्यतः पालन किया जाए।

इस्लामी दृष्टिकोण से धरती तथा उसपर स्थित सभी चीज़ें ईश्वर ने मानव-जाति के लिए बनाई हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि धरती से अपनी आजीविका प्राप्त करने का यत्न करे। इस अधिकार में सभी मानव समान रूप से भागीदार हैं, किसी को इस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता और न किसी को इस सम्बन्ध में दूसरों की तुलना में प्राथमिकता ही प्राप्त हो सकती है। किसी व्यक्ति या जाति या वर्ग पर ऐसा कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता जिससे वह उन आर्थिक संसाधनों में से कुछ को इस्तेमाल करने का अधिकारी ही न रहे, अथवा कुछ पेशों का द्वार उसके लिए बन्द कर दिया जाए। इसी प्रकार ऐसे भेदभाव भी धार्मिक नियम के आधार पर स्थापित नहीं किए जा सकते जिनके आधार पर किसी आर्थिक संसाधन या आजीविका के साधन पर

किसी विशेष वर्ग या जाति या परिवार का एकाधिकार हो जाए। ईश्वर की बनाई हुई धरती पर उसके पैदा किए हुए आजीविका के संसाधनों में से अपना हिस्सा हासिल करने की कोशिश करना सभी इनसानों का समानाधिकार है। सभी को जीविकोपार्जन के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए।

प्रकृति की जिन नेमतों को उपयोगी बनाने में किसी के परिश्रम तथा योग्यता का प्रयोग न किया गया हो, उनपर सभी लोगों को एक समान रूप से अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि उनसे अपनी आवश्यकतानुसार लाभ उठाए। नदियों और झरनों का पानी, जंगल की लकड़ी, प्राकृतिक रूप से उगनेवाले पेड़ों के फल, ख़ुद से उगी घास और चारा, हवा, पानी, मरुभूमि के जानवर और धरती की सतह पर खुली हुई खानें आदि पर न तो किसी का एकाधिकार स्थापित हो सकता है और न ही ऐसे प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं कि आम जनता कुछ भुगतान किए बिना उनसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी न कर सके। हाँ, जो लोग व्यावसायिक उद्देश्य से बड़े पैमाने पर उनमें से किसी चीज़ को उपयोग में लाना चाहें तो उनपर टैक्स लगाया जा सकता है।

ईश्वर ने जो चीज़ें इनसान के लाभ के लिए बनाई हैं, उन्हें बेकार डाल देना उचित नहीं है। या तो उनसे स्वयं लाभ उठाओ या फिर दूसरों को लाभ उठाने दो। इसी सिद्धान्त के आधार पर इस्लामी क़ानून यह फ़ैसला करता है कि कोई व्यक्ति शासन द्वारा दी गई भूमि को तीन वर्ष से अधिक अवधि तक बेकार नहीं रख सकता। यदि वह उसको कृषि या भवन-निर्माण अथवा किसी दूसरे प्रयोजन में न लाए तो तीन वर्ष बीत जाने के बाद वह परित्यक्त भूमि समझी जाएगी। अन्य कोई उसे अपने काम में ले आए तो उसपर आपत्ति नहीं की जा सकेगी तथा इस्लामी प्रशासन को भी यह हक़ प्राप्त होगा कि ऐसी भूमि किसी और को आवंटित कर दे।

जो व्यक्ति सीधे प्रकृति के ख़ज़ाने में से किसी चीज़ को लेकर अपने परिश्रम तथा अपनी योग्यता से उसको उपयोगी बनाता है तो वह उस वस्तु का स्वामी होगा। उदाहरणार्थ किसी बेकार पड़ी ज़मीन को जिसपर किसी का स्वामित्व साबित न हो, यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकार में लेकर किसी लाभकारी कार्य में इस्तेमाल करने लगे तो उसे बेदख़ल नहीं किया जा

सकता। इस्लामी दृष्टिकोण के अनुसार दुनिया में स्वामित्व-सम्बन्धी सभी अधिकारों की शुरुआत इसी प्रकार हुई है। सर्वप्रथम जब पृथ्वी पर इनसानी आबादी की शुरुआत हुई तो सभी चीज़ें सब लोगों के प्रयोग के लिए आम थीं। फिर जिस-जिस व्यक्ति ने किसी आम चीज़ को अपने अधिकार में लेकर किसी प्रकार उपयोगी बना लिया तो वह उसका मालिक हो गया। अर्थात् उसे यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह उसे अपने लिए आरक्षित कर ले और दूसरे लोग यदि उसको प्रयोग करना चाहें तो उनसे बदले में धन प्राप्त करे। यह चीज़ मनुष्य के सारे आर्थिक मामलों की स्वाभाविक बुनियाद है और इस बुनियाद को यथास्थिति बना रहना चाहिए।

इस्लामी विधान के वैध तरीक़ों से जो स्वामित्व का अधिकार संसार में किसी को प्राप्त हो, वह हर हाल में आदर के योग्य है। विवाद अगर हो सकता है तो इस बात में कि कोई स्वामित्व वैधानिक रूप से सही है या नहीं। जो स्वामित्व शरीअत के अनुसार नाजायज़ हों, उन्हें बेशक समाप्त होना चाहिए। परन्तु जायज़ स्वामित्व के बारे में किसी हुकूमत या किसी विधान परिषद को उसे वापस लेने या मालिकों के इस्लामी अधिकारों में कमी-बेशी करने का अधिकार नहीं है। सामाजिक सुधार के नाम पर कोई ऐसी व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती जो 'शरीअत' के दिए हुए अधिकारों को कुचलनेवाली हो। समूह के लाभ के लिए व्यक्तियों की अधिकृत सम्पत्ति पर जो प्रतिबन्ध इस्लामी क़ानून ने स्वयं लगा दिए हैं, उनमें कमी या वृद्धि करना ज़ुल्म है। इस्लामी हुकूमत का कर्तव्य है कि व्यक्तियों के शरीअत सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करे और उनसे समाज के उन हक़ों को वसूल कर ले जो उनपर इस्लामी विधान ने निश्चित किए हैं।

ईश्वर ने साधनों के वितरण में समानता नहीं रखी है, बल्कि अपनी तत्वदर्शिता के आधार पर कुछ लोगों की अपेक्षा कुछ को अधिक दिया है। सौन्दर्य, स्वर-माधुर्य, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्तियाँ, मानसिक योग्यताएँ, जन्मगत वातावरण और इसी प्रकार की अन्य चीज़ें सारे मनुष्यों को एक जैसी नहीं मिलीं। ऐसा ही मामला आजीविका का भी है। ईश्वर की बनाई हुई प्रकृति स्वतः इसकी अपेक्षा रखती है कि मानव के मध्य उसकी आजीविका में अन्तर हो। अतः ऐसे सभी उपाय इस्लामी दृष्टिकोण से

उद्देश्य और सिद्धान्त रूप में ग़लत हैं जो मानव के बीच एक कृत्रिम आर्थिक समानता बनाने के लिए अपनाए जाएँ। इस्लाम जिस समानता का पक्षधर है वह आजीविका में समानता नहीं, बल्कि जीविकोपार्जन की दौड़-धूप के अवसरों में समानता है। इस्लाम चाहता है कि समाज में ऐसी क़ानूनी और पारम्परिक बाधाएँ शेष न रहें जिनके आधार पर कोई व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार आर्थिक दौड़-धूप न कर सके। ऐसे भेदभाव भी न बने रहें जो कुछ विशेष वर्गों, जातियों, वंशों की जन्मजात वरिष्ठता को स्थायी क़ानूनी आरक्षणों में परिवर्तित कर देते हों। ये दोनों उपाय स्वाभाविक अन्तर के स्थान पर ज़बरदस्ती एक कृत्रिम समानता स्थापित करते हैं। इसलिए इस्लाम उन्हें मिटाकर समाज की आर्थिक व्यवस्था को ऐसी प्राकृतिक अवस्था में लाना चाहता है जिसमें प्रत्येक के लिए प्रयास के द्वार खुले हों। मगर जो लोग चाहते हैं कि आर्थिक प्रयासों के साधनों तथा परिणामों में भी सभी लोगों को बलपूर्वक बराबर कर दिया जाए, इस्लाम उनसे सहमत नहीं है; क्योंकि वे स्वाभाविक और प्राकृतिक असमानता को कृत्रिम समानता में बदलना चाहते हैं। प्रकृति और स्वभाव से निकटतम व्यवस्था वही हो सकती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में अपनी दौड़ का आरम्भ उसी स्थान और उसी अवस्था से करे जहाँ ईश्वर ने उसे पैदा किया है। जो कार लिए हुए आया है वह कार ही पर चले, जो केवल दो पैर लाया है वह पैदल ही चले और जो लंगड़ा पैदा हुआ है वह लंगड़ाकर ही चलना शुरू करे। समाज का नियम न तो ऐसा होना चाहिए कि वह कारवाले का कार पर स्थायी एकाधिकार स्थापित कर दे और लंगड़े के लिए कार प्राप्त करना असम्भव बना दे और न ऐसा ही होना चाहिए कि सबकी दौड़ ज़बरदस्ती एक स्थान और एक ही स्थिति से आरम्भ हो और आगे तक उन्हें अनिवार्यतः एक-दूसरे के साथ बांधकर रखा जाए। इसके विपरीत सामाजिक नियम ऐसे होने चाहिएँ जिनमें इस बात की निर्बाध सम्भावना मौजूद रहे कि जिसने अपनी दौड़ लंगड़ाकर शुरू की थी, वह अपने परिश्रम और योग्यता के बल पर कार पा सकता हो तो अवश्य पाए और जो आरम्भ में कार पर चला था, वह बाद में अपनी अयोग्यता से यदि लंगड़ा होकर रह जाए तो रह जाए।

इस्लाम केवल यही नहीं चाहता कि सामाजिक जीवन में यह आर्थिक दौड़ खुली और निष्पक्ष हो, बल्कि यह भी चाहता है कि इस मैदान में दौड़नेवाले एक-दूसरे के लिए निर्दयी न हों, बल्कि हमदर्द और मददगार हों। इस्लाम एक ओर तो अपनी नैतिक शिक्षा से लोगों में यह भावना उजागर करता है कि वे अपने दबे और पिछड़े भाइयों को सहारा दें, दूसरी ओर वह माँग करता है कि समाज में एक स्थायी संस्था ऐसी मौजूद रहे जो विवश और निराश्रित लोगों की मदद का फ़र्ज़ निभाए। जो लोग आर्थिक प्रयासों में भाग लेने के योग्य न हों, वे इस संस्था से अपना हिस्सा पाएँ। जो लोग संयोगवश इस दौड़ में गिर पड़े हों उन्हें यह संस्था उठाकर फिर चलने के योग्य बनाए और जिन लोगों को आर्थिक संघर्ष के मैदान में उतरने के लिए सहारे की ज़रूरत हो, उन्हें इस संस्था से सहारा मिले। इस उद्देश्य के लिए इस्लाम ने क़ानून के आधार पर यह निश्चित किया है कि सम्पूर्ण जमा राशि तथा सम्पूर्ण व्यापारिक पूँजी पर भी ढाई प्रतिशत वार्षिक ज़कात (Poor Due) वसूल की जाए। समस्त कृषि-भूमि की उपज का पाँच या दस प्रतिशत, कुछ खनिज पदार्थों की उपज का बीस प्रतिशत भाग वुसूल किया जाए। पशुओं की एक निश्चित संख्या पर भी एक निश्चित अनुपात में वार्षिक ज़कात लागू की जाए और यह सम्पूर्ण धन निर्धनों, अनाथों, बूढ़ों, बेसहारों, बेरोज़गारों, बीमारों और अन्य प्रकार के मुहताजों की मदद में इस्तेमाल किया जाए। यह एक ऐसा 'सामूहिक बीमा' है जिसकी उपस्थिति में इस्लामी समाज में कोई व्यक्ति जीवन की अनिवार्य ज़रूरतों से कभी वंचित नहीं रह सकता। कोई मेहनत करनेवाला कभी इतना मजबूर नहीं हो सकता कि भूखा मरने के डर से मज़दूरी की वे शर्तें मान ले जो फ़ैक्ट्री मालिक या ज़मींदार पेश कर रहा हो। ज़कात की इस व्यवस्था की मौजूदगी में किसी व्यक्ति की शक्ति उस न्यूनतम स्तर से कभी नीचे नहीं गिर सकती जो आर्थिक दौड़ में भाग लेने के लिए आवश्यक है।

व्यक्ति तथा समाज के बीच इस्लाम एक ऐसा सन्तुलन स्थापित करना चाहता है, जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व तथा उसकी स्वतन्त्रता भी बनी रहे और सामाजिक हित के लिए उसकी वह स्वतन्त्रता हानिकारक भी न हो;

बल्कि अनिवार्यतः लाभदायक हो। इस्लाम किसी ऐसी राजनीतिक या आर्थिक व्यवस्था को पसन्द नहीं करता जो 'व्यक्ति' को 'समूह' में गुम कर दे और उसके लिए वह स्वतन्त्रता शेष न रहने दे जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए ज़रूरी है। किसी देश के उत्पादन के सभी साधनों के राष्ट्रीयकरण का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि देश के तमाम लोग 'समूह' के शिकंजे में जकड़ जाते हैं। इस स्थिति में उनकी वैयक्तिकता (Individuality) की रक्षा अत्यन्त कठिन, बल्कि असम्भव है। वैयक्तिकता के लिए जिस प्रकार राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता ज़रूरी है, उसी प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता भी बड़ी हद तक ज़रूरी है। अगर हम 'मनुष्यता' को बिल्कुल मिटाना नहीं चाहते तो हमारे सामूहिक जीवन में इतनी गुंजाइश अवश्य होनी चाहिए कि एक व्यक्ति अपनी आजीविका स्वतन्त्र रूप से पैदा करके अपने आत्म-सम्मान को शेष रख सके तथा अपनी मानसिक व नैतिक क्षमताओं को अपनी रुचि के अनुकूल विकसित कर सके। राशन की आजीविका, जिसकी कुंजियाँ दूसरों के हाथ में हों, अगर बहुतायत से भी मिले तो आनन्दमय कभी नहीं हो सकती, क्योंकि उससे व्यक्ति की उड़ान में जो बाधा आती है, मात्र शारीरिक विकास से उसकी पूर्ति क़भी नहीं हो सकती। जिस प्रकार इस्लाम ऐसी व्यवस्था को नापसन्द करता है, उसी प्रकार वह किसी ऐसी सामूहिक व्यवस्था को भी पसन्द नहीं करता, जो व्यक्तियों को सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में बेलगाम स्वतन्त्रता देती है और उन्हें खुली छूट देती है कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति या अपने हित के लिए समाज को जिस प्रकार चाहें, नुक़सान पहुँचाएँ। इन दोनों अतियों के बीच इस्लाम ने जो मध्यमार्ग अपनाया है, वह यह है कि व्यक्ति को पहले तो समाज के लिए कुछ प्रतिबन्धों तथा कर्तव्यों का पालन करनेवाला बनाया जाए फिर उसे अपने मामलों में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए। उन प्रतिबन्धों तथा कर्तव्यों की एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत है—

पहले आजीविकोपार्जन को लीजिए। धन क़माने के साधनों में इस्लाम ने जितनी बारीकी से उचित-अनुचित का वर्गीक़रण किया है, उतना विश्व के किसी क़ानून ने नहीं किया है। वह चुन-चुनकर ऐसे समस्त साधनों को

अवैध घोषित करता है जिनके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों अथवा समस्तीय रूप से सम्पूर्ण समाज को नैतिक या भौतिक हानि पहुँचाकर अपनी रोज़ी कमाता है। शराब और नशीली वस्तुओं का उत्पादन और विक्रय, अश्लीलता, नाच-गाने का पेशा, जुआ, सट्टा, लाटरी, ब्याज, अनुमान और धोखे व विवादित सौदे, ऐसे सभी व्यापारिक तरीक़े जिनमें एक पक्ष का लाभ निश्चित तथा दूसरे का संदिग्ध हो; आवश्यक वस्तुओं को रोककर उनके मूल्य बढ़ाना और ऐसे ही अन्य सभी कारोबार जो समाज के लिए हानिप्रद हैं, इस्लाम में पूरी तरह अवैध ठहराए गए हैं। इस मामले में अगर आप इस्लाम के आर्थिक नियमों को देखें तो अवैध रीतियों की एक लम्बी सूची सामने आएगी, जिसमें से बहुत-सी रीतियाँ, आपको मिलेंगी जिनको अपनाकर ही वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में लोग करोड़पति बनते हैं। इस्लाम उन सब तरीक़ों को क़ानून के द्वारा बन्द करता है और व्यक्ति को केवल उन तरीक़ों से धन कमाने की अनुमति देता है जिनसे वह दूसरों की कोई वास्तविक और लाभदायक सेवा करके न्याय के साथ उसका मूल्य प्राप्त करे।

वैध साधनों से कमाए गए धन पर इस्लाम व्यक्ति के स्वामित्व के अधिकार को मान्यता देता है, परन्तु ये अधिकार असीमित नहीं हैं। वह व्यक्ति को पाबन्द करता है कि अपनी वैध कमाई को केवल उचित मदों में ही व्यय करे। व्यय पर इस्लाम ने ऐसे प्रतिबंध लगा दिए हैं जिनके फलस्वरूप व्यक्ति एक साफ़-सुथरा जीवन तो व्यतीत कर सकता है, परन्तु अय्याशियों में दौलत नहीं उड़ा सकता। न शान-व-शौक़त दिखाने में सीमा से आगे बढ़ सकता है कि दूसरों पर उसके प्रभुत्व का सिक्का जमने लगे। अपव्यय की कुछ मदें तो इस्लाम में स्पष्ट रूप से मना हैं और कुछ अन्य प्रकारों का यद्यपि स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है परन्तु इस्लामी हुकूमत को यह अधिकार है कि अपने निजी धन के अनुचित प्रयोग से लोगों को बलपूर्वक रोक दे।

वैध और उचित ख़र्च के बाद जो दौलत व्यक्ति के पास बच जाए उसे वह जमा भी कर सकता है और उसे अतिरिक्त धनोपार्जन में भी लगा सकता है। मगर इन दोनों अधिकारों पर भी पाबन्दियाँ हैं। धन जमा करने की

स्थिति में प्रतिबन्ध यह है कि यदि जमा राशि एक निर्धारित सीमा से बढ़ जाती है तो उसपर ढाई प्रतिशत वार्षिक 'ज़कात' देनी होगी। व्यवसाय में लगाना चाहे तो केवल वैध कारोबार में ही लगा सकता है। वैध कारोबार व्यक्ति चाहे स्वयं करें या किसी दूसरे को अपनी पूँजी—नक़द या भूमि या मशीनों आदि के रूप में—देकर लाभ-हानि में साझेदार बन सकता है। ये दोनों तरीक़े जायज़ हैं। इन सीमाओं के अन्दर कार्य करके यदि कोई व्यक्ति करोड़पति भी बन जाए तो इस्लाम की दृष्टि में यह कोई आपत्तिजनक चीज़ नहीं है, बल्कि ईश्वर का पुरस्कार है। परन्तु सामाजिक हित के लिए वह इस पर दो प्रतिबन्ध लगाता है। एक यह कि वह अपने व्यापारिक धन पर ज़कात और कृषि-उत्पाद पर उश्र (दशवाँ हिस्सा) अदा करे। दूसरा यह कि वह अपने व्यापारिक औद्योगिक या कृषि में जिन लोगों के साथ साझेदारी या मज़दूरी का मामला करे उनसे न्यायपूर्ण मामला करे, यदि वह स्वयं यह न्याय न करेगा तो इस्लामी हुकूमत उसे न्याय के लिए विवश कर देगी।

फिर जो धन इन जायज़ तरीक़ों से इकट्ठा हो, उसको भी इस्लाम अधिक समय तक केन्द्रित नहीं रहने देता, बल्कि अपने विरासत-सम्बन्धी क़ानून के द्वारा उसे हर पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी तक फैला देता है। इस बारे में इस्लामी क़ानून का रुझान संसार के दूसरे तमाम क़ानूनों के रुझानों से भिन्न है। दूसरे क़ानून प्रयास करते हैं कि जो सम्पत्ति एक बार सिमट चुकी है, वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक जगह इकट्ठा रहे। इसके विपरीत इस्लाम ऐसा क़ानून बनाता है कि जो दौलत एक व्यक्ति ने अपने जीवन में इकट्ठी की हो, वह उसके मरते ही उसके निकट सम्बन्धियों में बाँट दी जाए। निकट सम्बन्धी न हों तो दूर के रिश्तेदार अपने हिस्से के अनुसार उसके उत्तराधिकारी हों और अगर कोई दूर-दराज़ के रिश्तेदार भी न हों तो फिर पूरी मुस्लिम सोसाइटी उसकी हक़दार है। यह क़ानून किसी बड़ी सरमायादारी और ज़मींदारी को स्थायी और सुरक्षित नहीं रहने देता। पिछली सारी पाबन्दियों के बाद भी अगर धन के केन्द्रीकरण से कोई ख़राबी पैदा हो भी जाए तो उत्तराधिकार सम्बन्धी यह आख़िरी चोट उसे दूर कर देती है।

अध्याय-1

इनसान की आर्थिक समस्या और उसका इस्लामी समाधान

वर्तमान समय में विभिन्न देशों और राष्ट्रों तथा सामूहिक रूप से पूरी दुनिया की आर्थिक समस्याओं को जो महत्व दिया जा रहा है, शायद इससे पहले इन समस्याओं को कम से कम इतने उत्कृष्ट रूप पर इनको इतना महत्व कभी नहीं दिया गया। उत्कृष्ट रूप पर शब्दों का मैं इसलिए इस्तेमाल कर रहा हूँ कि वास्तव में मानव के जीवन में उसकी आजीविका जितना महत्व रखती है, उस दृष्टि से हर ज़माने में व्यक्तियों, गरोहों, देशों, राष्ट्रों और सारे मनुष्यों ने बहरहाल इस ओर ध्यान दिया है। लेकिन आज इस ध्यान को जिस चीज़ ने अधिक उत्कृष्ट कर दिया है वह अर्थशास्त्र के नाम से एक सुव्यवस्थित शास्त्र की बड़ी-बड़ी किताबों, भारी-भरकम परिभाषाओं और शानदार संस्थाओं का मौजूद होना तथा जीवन की आवश्यक सामग्री का उत्पादन, उनका जुटाना एवं उपार्जन के तरीक़ों का जटिल से जटिल होते चले जाना है। इन कारणों से आज आर्थिक समस्याओं पर बहस और वार्तालाप और वैज्ञानिक शोध का इतना ज़ोर-शोर है कि इनके आगे मानव-जीवन की सारी समस्याएँ दबकर रह गई हैं। लेकिन यह अजीब बात है कि जिस चीज़ पर पूरे विश्व का ध्यान इस तरह केन्द्रित हो गया है, वह सुलझने और साफ़ होने के बजाय और अधिक उलझती तथा पहेली बनती चली जा रही है। अर्थशास्त्र की मोटी-मोटी परिभाषाओं ने और अर्थशास्त्रियों ने बाल की खाल निकालनेवाले वार्तालापों ने आम लोगों को इतना भयभीत कर दिया है कि वे बेचारे इन उच्च श्रेणी की शास्त्रीय बहसों को सुनकर इस तरह अपने आर्थिक मसले की विकरालता से आतंकित होकर और उसके हल की सभी सम्भावनाओं से निराश हो जाते हैं, जिस तरह एक बीमार किसी डॉक्टर की ज़ुबान से अपनी बीमारी का कोई मोटा-सा लातीनी नाम सुनकर डर जाता है और सोचता है कि जब मुझे ऐसी सख़्त बीमारी लग गई है तो

मेरी जान का अब ईश्वर ही रक्षक है। हालाँकि इन परिभाषाओं और शास्त्रीय बहसों का परदा हटाकर सीधे-सीधे स्वाभाविक तरीक़े से देखा जाए तो मनुष्यों की आर्थिक समस्या बड़ी आसानी से समझ में आ सकती है और इस मसले के हल के विभिन्न उपाय जो संसार में अपनाए गए हैं, उनके लाभकारी तथा हानिकारक पहलू भी बिना किसी कठिनाई के देखे जा सकते हैं और उसके समाधान की सही और स्वाभाविक रीति जो कुछ हो सकती है, उसके समझने में भी कोई कठिनाई शेष नहीं रहती।

पारिभाषिक शब्दों के विभ्रम और कलात्मक जटिलताओं के मायाजाल ने इस मसले को जिस तरह उलझाया है, उस पर तदधिक उलझन इस वजह से पैदा हो गई है कि इनसान की आर्थिक समस्याओं को, जो दरअस्ल मानवीय जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं का एक हिस्सा था। सम्पूर्ण से अलग करके एक स्वतन्त्र और स्थाई मसले के रूप में देखा जाने लगा और धीरे-धीरे यह लय इतनी बढ़ी की आर्थिक समस्या को ही पूरे जीवन की समस्या समझ ली गई। यह पहली ग़लती से भी ज़्यादा बड़ी ग़लती है, जिसके कारण इस गुत्थी को सुलझाना दुष्कर हो गया है। इसकी मिसाल बिल्कुल ऐसी ही है जैसे कोई जिगर के रोग का विशेषज्ञ मानव-शरीर की सम्पूर्ण व्यवस्था से अलग करके और इस व्यवस्था में जिगर की जो हैसियत है, उसे नज़रअन्दाज़ करके जिगर को बस जिगर होने की हैसियत से देखना शुरू कर दे और फिर उस देखने में इतना डूब जाए कि अन्ततः उसे पूरा मानव-शरीर बस एक जिगर ही जिगर नज़र आने लगे। आप ख़ुद समझ सकते हैं कि अगर मानव-स्वास्थ्य की सारी समस्याओं को केवल जिगर से ही हल करने की कोशिश की जाए तो इन समस्याओं का हल होना कितना असम्भव हो जाएगा और आदमी बेचारे की जान कितना ज़्यादा ख़तरे में पड़ जाएगी। बस इसी पर अनुमान कर लीजिए कि जब आर्थिक समस्या को मानव की सम्पूर्ण समस्याओं में से निकालकर अलग कर लिया जाए और फिर इसी को कि 'यही मानव-जीवन है' ठहराकर जीवन की सारी समस्याएँ इसी से हल की जाने लगें तो सिवाय उद्विग्नता और हैरानी के और क्या हासिल होगा।

आधुनिक युग के फ़ितनों में से यह विशेषज्ञता (Specialisation) का फ़ितना भी एक बड़ा फ़ितना हैं। जीवन और उसकी समस्याओं पर समष्टीय दृष्टि कम-से-कम होती चली जाती है। मानव विभिन्न विद्या एवं कलाओं के एक स्रोत के विशेषज्ञों के हाथों में खिलौना बनकर रह गया है। कोई भौतिक विज्ञान का विशेषज्ञ है तो वह सम्पूर्ण सृष्टि की पहेली सिर्फ़ भौतिक विज्ञान की अपनी विशेषज्ञता के बल पर ही हल करने लगता है। किसी के दिमाग़ पर मनोविज्ञान छाया हुआ है तो वह अपने मनोवैज्ञानिक अनुभवों और निरीक्षणों पर भरोसा करके पूरा जीवन दर्शन संकलित करना चाहता है। किसी व्यक्ति की नज़र यौन सम्बन्धी विषयों पर जमकर रह गई है तो वह कहता है कि पूरा मानव-जीवन बस कामेच्छा (सेक्स) की धुरी पर घूम रही है। यहाँ तक कि ईश्वर का ख़याल भी मनुष्य के दिमाग़ में इसी रास्ते से आया है। इसी तरह जो लोग आर्थिक समस्याओं में डूबे हुए हैं वे मानव को यक़ीन दिलाना चाहते हैं कि आर्थिक समस्या ही तेरे जीवन की मूल समस्या है और बाक़ी सारी समस्याएँ इसी जड़ की शाखाएँ हैं। हालाँकि वस्तुस्थिति जो कुछ है वह यह है कि ये सब एक सम्पूर्ण के विभिन्न पहलू हैं। इस सम्पूर्ण के अन्दर इन सबका एक विशिष्ट स्थान है और उस स्थान के लिहाज़ से ही उनका महत्व भी है। इनसान एक जिस्म रखता है जो भौतिक क़ानून के तहत है। इस दृष्टि से मनुष्य भौतिक विज्ञान का विषय भी है, मगर वह केवल शरीर ही नहीं है कि सिर्फ़ भौतिक विज्ञान से उसकी सारी समस्याएँ हल की जा सकें। मनुष्य एक जीवंत अस्तित्व है, जिस पर जीवन-विधान लागू होते हैं। इस दृष्टि से वह जीव-विज्ञान का विषय भी है। मगर वह मात्र जीवधारी नहीं है कि सिर्फ़ जीव-विज्ञान से ही उसकी ज़िन्दगी का पूरा क़ानून उद्धृत किया जा सके। मनुष्य को जीवित रहने के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की ज़रूरत होती है। इस दृष्टि से उसके जीवन का एक महत्वपूर्ण विभाग अर्थशास्त्र की परिधि में आता है। मगर वह केवल एक खाने, पहनने और घर बनाकर रहनेवाला प्राणी ही नहीं है कि केवल अर्थशास्त्र ही पर उसके जीवन-दर्शन की बुनियाद रख दी जाए। इनसान अपनी जाति को बाक़ी रखने के लिए बच्चे पैदा करने पर भी मजबूर है,

जिसके लिए उसके अन्दर एक प्रबल यौनिक रुझान पाया जाता है। इस लिहाज़ से यौनशास्त्र भी उसकी ज़िन्दगी के एक महत्वपूर्ण पहलू से सम्बन्ध रखता है। मगर वह केवल नस्ल बढ़ाने का यन्त्र नहीं है कि बस यौनशास्त्र ही की ऐनक लगाकर उसे देखा जाने लगे। मनुष्य एक मानस (चिंतन शक्ति) भी रखता है, जिसमें ज्ञान और सूझबूझ की विभिन्न क्षमताएँ, भावनाएँ और इच्छाओं की विभिन्न शक्तियाँ हैं। इस दृष्टि से मनोविज्ञान उसके अस्तित्व के एक बड़े को अपने घेरे में लिए हुए है किन्तु उसका अस्तित्व सर्वथा मानसिक ही नहीं है कि मनोविज्ञान के अन्तर्गत उसकी ज़िन्दगी की पूरी योजना बनाई जा सके। इनसान एक सामाजिक प्राणी है जो स्वाभाविक रूप से दूसरे लोगों के साथ मिलकर रहने के लिए मजबूर है। इस दृष्टि से उसके जीवन के बहुत से पहलू समाजशास्त्र के तहत आते हैं। लेकिन सामाजिक प्राणी होना ही उसका पूर्ण अस्तित्व नहीं है कि केवल समाजशास्त्र के विशेषज्ञ बैठकर उसके लिए पूरी जीवन-व्यवस्था तैयार कर सकें। मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है, जिसके अन्दर दृष्टिगोचर वस्तुओं के आगे बुद्धिगत चीज़ों की माँग भी पाई जाती है और बौद्धिक सन्तुष्टि चाहता है। इस लिहाज़ से दर्शन एवं तर्कशास्त्र उसकी इस ख़ास माँग को पूरा करते हैं। मगर इनसान पूरे का पूरा बुद्धि ही नहीं है कि केवल दर्शन एवं तर्कशास्त्र के बल पर उसके लिए एक जीवन-प्रणाली निर्धारित की जा सके। मनुष्य एक नैतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व है, जिसमें भले-बुरे की अनुभूति और बौद्धिक दोनों प्रकार की चीज़ों से आगे की वास्तविकता तक पहुँचने की प्रेरणा भी पाई जाती है। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र और आध्यात्मशास्त्र इसकी एक और महत्वपूर्ण माँग को पूरा करते हैं। मगर वह सर्वथा नैतिकता और आत्मा ही नहीं है कि केवल नीतिशास्त्र और आध्यात्मशास्त्र के द्वारा उसके लिए पूर्ण जीवन-प्रणाली निर्धारित की जा सके। वास्तव में इनसान एक साथ ये सब कुछ है और इन तमाम हैसियतों के अलावा उसकी एक हैसियत यह भी है कि वह अपने तमाम अस्तित्व और अपने जीवन के सभी विभागों सहित ब्रह्माण्ड की इस विशालतम व्यवस्था का एक अंश है। उसकी ज़िन्दगी का नियम अनिवार्य रूप से इस बात का निश्चित होना चाहता है कि इस

जगत में उसकी हैसियत क्या है और उसका हिस्सा होने की हैसियत से उसको किस तरह काम करना चाहिए? फिर उसके लिए यह भी अनिवार्य है कि वह अपने जीवन-उद्देश्य को निश्चित करे और उसी के आधार पर फ़ैसला करे कि उसे किस लिए काम करना है? ये आख़िरी दोनों सवाल मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न हैं। इन्हीं पर एक जीवन-दर्शन का आविर्भाव होता है। फिर इस जीवन-दर्शन के अन्तर्गत सभी वे ज्ञान-विज्ञान जो जगत और मनुष्य से सम्बन्धित रखते हैं अपने-अपने क्षेत्र की जानकारियाँ जुटाते हैं तथा कमोबेश इन सबसे मिलकर एक ऐसी प्रणाली बनती है, जिसके अनुसार मानव-जीवन का पूरा कारख़ाना चलता है।

अब यह स्पष्ट हुआ कि अगर आप अपने जीवन की किसी समस्या को समझना चाहें तो इसके लिए यह कोई सही तरीक़ा नहीं होगा कि आप सूक्ष्मदर्शी यंत्र लगाकर केवल उसी एक मसले को नज़र को सीमित करके देखें या ख़ास उसी जीवन विभाग के लिए जिससे उस समस्या का सम्बन्ध है एक प्रकार के पक्षपात को लेकर सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टि डालें। बल्कि सही समझ और विवेक के लिए समग्र के अन्दर रखकर उसे देखना होगा तथा निष्पक्ष दृष्टि से देखना होगा। इसी तरह अगर आप ज़िन्दगी के सन्तुलन में कोई बिगाड़ पाएँ और उसे दूर करना चाहें तो यह और भी अधिक ख़तरनाक है कि आप जीवन की किसी एक समस्या को ज़िन्दगी की सम्पूर्ण समस्या क़रार देकर सारे कारख़ाने को इसी एक पुर्ज़े के गिर्द घुमाएँ। ऐसा करके आप और अधिक असन्तुलन पैदा कर देंगे। सुधार का सही तरीक़ा यह है कि निष्पक्ष दृष्टि से पूरी जीवन-व्यवस्था को उसके आधारभूत दर्शन से लेकर फैली हुई शाखाओं तक को निष्पक्ष दृष्टिकोण से देखिए और खोज कीजिए कि ख़राबी किस जगह और किस प्रकार की है?

मनुष्य की आर्थिक समस्या को समझने और सही तौर पर हल करने में जो कठिनाइयाँ सामने आ रही हैं, उसकी बड़ी वजह यही है कि इस समस्या को कुछ लोग केवल अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से ही देखते हैं तो कुछ इसके महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर इसे जीवन की सम्पूर्ण समस्या ठहरा रहे हैं। कुछ लोग इससे भी आगे बढ़कर जीवन का बुनियादी दर्शन, नैतिकता, नागरिकता

और समाज की सारी व्यवस्था को आर्थिक बुनियाद पर ही स्थापित करना चाहते हैं। हालाँकि अगर अर्थशास्त्र ही को आधार माना जाए तो मनुष्य का जीवन-उद्देश्य उस बैल के जीवन-उद्देश्य से कुछ भी भिन्न नहीं ठहरता, जिसकी सारी कोशिश और संघर्ष की पराकाष्ठा यह है कि हरी-हरी घास खाकर खुश और ताक़तवर हो जाए और जगत में उसकी यह हैसियत ठहरती है कि वह दुनिया की चरागाहों में बस एक आज़ाद चरने-चुगनेवाला पशु है। इसी तरह नीतिशास्त्र, आध्यात्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और अन्य दूसरे सभी ज्ञानों के क्षेत्रों में भी आर्थिक दृष्टिकोण के छा जाने से आत्यान्तिक असन्तुलन का ख़तरा पैदा हो जाता है, क्योंकि इन सभी जीवन-विभागों के लिए अथाशास्त्र में कोई बुनियाद इसके सिवा नहीं है कि नैतिकता एवं आध्यात्म स्वार्थ और भौतिकवाद का रूप धारण कर ले और मस्तिष्क पेट बनकर रह जाए। अगर सामाजिकता के नियमों का सारा संयोजन सामाजिक तथ्यों के बजाए कारोबारी उद्देश्यों पर आधारित हो और मनोविज्ञान में मनुष्य का अध्ययन सिर्फ़ एक आर्थिक पशु की हैसियत से किया जाने लगे तो क्या मानवता पर इससे बढ़कर कोई और ज़ुल्म हो सकता है।

मूल आर्थिक समस्या

अब हम यदि पारिभाषिक और तकनीकी जटिलताओं से हटकर एक सीधे-साधे तरीक़े से देखें तो इनसान का आर्थिक मसला हमको यह नज़र आता है कि सभ्यता के विकास की रफ़्तार को क़ायम रखते हुए किस तरह सभी लोगों तक जीवन की आवश्यक चीज़ें पहुँचाने का प्रबन्ध हो और किस प्रकार समाज में हर व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार प्रगति करने, अपने व्यक्तित्व को विकसित करने और अपने कला-कौशल तक पहुँचने के अवसर प्राप्त रहें?

प्राचीनकाल में मनुष्य के लिए आजीविका की समस्या लगभग उतनी ही आसान थी जितनी कि यह जानवरों के लिए आसान है। ईश्वर की इस धरती पर जीवन की अगणित चीज़ें फैली हुई हैं। हर प्राणी के लिए आजीविका की जितनी ज़रूरत है, वह उतनी प्रचुर मात्रा में मौजूद है। हरेक

अपनी आजीविका तलाश करने के लिए निकलता है और जाकर आजीविका के ख़ज़ाने में से हासिल कर लेता है। किसी को न इसकी क़ीमत चुकानी पड़ती है और न उसकी रोज़ी किसी दूसरे प्राणी के क़ब्ज़े में है। लगभग यही हालत इनसान की भी थी कि वह गया और प्राकृतिक आजीविका चाहे वह फलों के रूप में हो या शिकार किए जानेवाले जानवरों के रूप में, हासिल कर ली। प्राकृतिक पैदावार से शरीर ढाकने का इन्तिज़ाम कर लिया और ज़मीन में जहाँ भी मौक़ा देखा एक सिर छिपाने और पड़ रहने के लिए एक जगह बना ली। लेकिन ईश्वर ने मनुष्य को इसलिए नहीं पैदा किया था कि वह अधिक समय तक इसी हाल में रहे। उसने इनसान के अन्दर ऐसी प्राकृतिक प्रेरणाएँ रखीं थी कि वह एकाकी जीवन छोड़कर सामाजिक जीवन अपनाए और अपनी कारीगरी से अपने लिए जीवन के उन साधनों से बेहतर पैदा करे जो प्रकृति ने जुटाए थे। स्त्री और पुरुष के बीच सतत् सम्बन्धों की स्वाभाविक इच्छा, इनसानी बच्चों का अधिक समय तक माँ-बाप की परवरिश का मुहताज होना, अपनी नस्ल के साथ इनसान की गहरी दिलचस्पी और ख़ूनी रिश्तों से मुहब्बत—ये वे चीज़ें हैं जो मनुष्य को सामाजिक जीवन अपनाने पर मजबूर करने के लिए स्वयं प्रकृति ही ने उसके अन्दर रख दी थीं। इस तरह मनुष्य का अपने आप उगनेवाली पैदावार पर बस न करना और खेती-बाड़ी से अपने लिए खुद अनाज पैदा करना, पत्तों से शरीर ढाँकने पर ही बस न करना बल्कि अपनी कारीगरी से अपने लिए वस्त्र तैयार करना, गुफाओं और खोहों में अपने रहने पर राज़ी न होना और अपने लिए खुद घर बनाना, अपनी ज़रूरतों के लिए शारीरिक यंत्रों पर बस न करना और पत्थर, लकड़ी, लोहे आदि के यन्त्रों का आविष्कार करना। इन सबकी प्रेरणा भी प्रकृति ही ने उसके अन्दर रखी थी। इसका भी अनिवार्य परिणाम यही था कि धीरे-धीरे वह सभ्य हो। अतः मनुष्य सभ्य और सुसंस्कृत हुआ, तो उसने कोई अपराध नहीं किया बल्कि उसकी प्रकृति का यही तक़ाज़ा और उसके स्रष्टा की इच्छा यही थी।

सभ्यता के जन्म के साथ ही कुछ और चीज़ें अवश्यंभावी थीं।

पहली यह कि मानव-जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ें और हर व्यक्ति स्वयं

तमाम जीवन-सामग्री न जुटा सके बल्कि उसकी कुछ ज़रूरतें दूसरों से और दूसरों की उससे जुड़ी हुई हों।

दूसरी यह कि जीवन-सामग्री का विनिमय किया जाए और धीरे-धीरे चीज़ों के विनिमय का एक माध्यम (Medium of Exchange) तय हो जाए।

तीसरी यह कि ज़रूरत की चीज़ें तैयार करने के यन्त्र और परिवहन के साधन बढ़ाए जाएँ और जितनी नई चीज़ों का मनुष्यों को ज्ञान हो, उन सबसे लाभ उठाता चला जाए।

चौथी यह कि आदमी को इसका इत्मीनान हो कि जो चीज़ें उसने अपनी मेहनत से हासिल की हैं, वे यन्त्र जिनसे वह काम करता है, वह ज़मीन जिस पर उसने घर बनाया है, वह स्थान जिसमें वह अपने पेशे का काम करता है, ये सब चीज़ें उसी के क़ब्ज़े में रहेगी और उसके बाद उन लोगों को दे दी जाएँगी, जो दूसरों की अपेक्षा उसके अपने अधिक क़रीबी लोग होंगे।

इस तरह विभिन्न व्यवसायों का पैदा होना, क्रय-विक्रय, वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण, मूल्य के मापदण्ड के तौर पर मुद्रा का चलन, अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन और आयात-निर्यात की हालत तक पहुँचना, उत्पादन के नए साधनों और यन्त्रों का इस्तेमाल में आना, स्वामित्व के अधिकार और विरासत का वजूद में आना—ये सभी स्वाभाविक माँग थी तथा इनमें से कोई भी चीज़ गुनाह नहीं थी कि उसे त्याग कर 'तौबा' की जाए।

फिर नागरिकता और सभ्यता के विकास के साथ यह भी ज़रूरी था कि—

(1) विभिन्न मनुष्यों की शक्तियों और योग्यताओं के बीच जो अन्तर स्वयं प्रकृति ने रखा है, उसकी वजह से कुछ लोगों को अपनी मौलिक आवश्यकता से अधिक कमाने का मौक़ा मिल जाए और कुछ अपनी ज़रूरत के अनुसार और कुछ इससे भी कम कमाएँ।

(2) कुछ लोगों को विरासत के द्वारा ज़िन्दगी शुरू करने के अच्छे संसाधन उपलब्ध हो जाएँ, कुछ कम संसाधन के साथ और कुछ बिना संसाधन के जीवन-क्षेत्र में क़दम रखें।

(3) प्राकृतिक कारणों से हर आबादी में ऐसे लोग मौजूद रहें जो

आजीविका के उपार्जन के काम में हिस्सा लेने और जीवन के संसाधनों के विनिमय में शरीक होने के योग्य न हों जैसे—बच्चे, बूढ़े, बीमार और विकलांग आदि।

(4) कुछ लोग सेवा लेनेवाले और कुछ लोग सेवा करनेवाले हों और इस तरह स्वतन्त्र उद्योग, व्यापार एवं कृषि के अलावा नौकरी और मज़दूरी की स्थितियाँ भी पैदा हो जाएँ।

ये सब भी स्वयं मानव-सभ्यता को प्रकट करनेवाली स्वाभाविक चीज़ें और नैसर्गिक पक्ष हैं। इन परिस्थितियों का पैदा होना भी अपनी जगह कोई बुराई या गुनाह नहीं है कि उनके उन्मूलन की चिन्ता की जाए। सभ्यता की ख़राबी के दूसरे कारणों से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं, उनके मूल कारण को न पाकर बहुत से लोग घबरा उठते हैं। वे कभी निजी मिल्कियत को, कभी रुपए को, कभी मशीन को, कभी मनुष्य की स्वाभाविक असमानता को और कभी स्वयं सभ्यता ही को कोसने लगते हैं। लेकिन वास्तव में रोग का यह ग़लत परीक्षण और ग़लत प्रस्तावित इलाज है। मानव प्रकृति के फलस्वरूप सभ्यता में जो विकास और उन्नति होती है और इससे स्वाभाविक रूप से जो परिस्थितियाँ पैदा होती हैं, उनको रोकने की हर कोशिश नादानी है। उसके नतीजे में भलाई के बजाए तबाही की सम्भावना अधिक है। मनुष्य की वास्तविक आर्थिक समस्या यह नहीं है कि सभ्यता के विकास को किस प्रकार रोका जाए या उसके प्राकृतिक स्रोतों को किस तरह बदला जाए, बल्कि वास्तविक समस्या यह है कि सभ्यता के विकास की स्वाभाविक गति को बरक़रार रखते हुए सामाजिक अत्याचार व अन्याय को कैसे रोका जाए और प्रकृति का यह उद्देश्य कि प्रत्येक प्राणी को उसकी रोज़ी पहुँचे—कैसे पूरा किया जाए और उन रुकावटों को किस प्रकार दूर किया जाए, जिनके कारण बहुत से लोगों की शक्तियाँ और योग्यताएँ मात्र संसाधनों के अभाव के कारण विनष्ट हो जाती हैं।

अर्थव्यवस्था की ख़राबी के मूल कारण

अब हमें देखना चाहिए कि ख़राबी के मूल कारण क्या हैं और ख़राबी किस प्रकार की है?

अर्थव्यवस्था की ख़राबी का प्रारम्भ है स्वार्थपरता का हद से बढ़ जाना। फिर दूसरे प्रकार के नैतिक ह्रासों और एक विकृत राजनीतिक व्यवस्था की मदद से यह चीज़ बढ़ती और फैलती है। यहाँ तक कि पूरी अर्थव्यवस्था को दूषित करके जीवन के अन्य विभागों में भी अपना विष फैला देती है। इन्हें मैं बयान कर चुका हूँ कि निजी स्वामित्व और कुछ लोगों का कुछ लोगों की अपेक्षा बेहतर आर्थिक स्थिति में होना, ये दोनों बातें प्रकृति की ठीक अपेक्षाओं में से थीं और इनमें अपनी जगह कोई ख़राबी न थी। अगर मनुष्य के सभी नैतिक गुणों को सन्तुलित रूप में काम करने का अवसर मिलता और बाह्य रूप से भी एक ऐसी सरकार मौजूद होती जो अपनी शक्ति और बल के साथ न्याय की स्थापना करती तो इनसे कोई ख़राबी पैदा नहीं हो सकती थी। लेकिन जिस चीज़ ने इन्हें ख़राबियों के पैदा होने का साधन बना दिया, वह यह थी कि जो लोग स्वाभाविक संसाधनों से बेहतर आर्थिक स्थिति रखते थे, वे स्वार्थपरता, संकीर्णता, अदूरदर्शिता, लोभ, कंजूसी, बेईमानी और अपनी इच्छाओं की पूजा में पड़कर रह गए। शैतान ने उन्हें यह समझाया कि आपकी वास्तविक आवश्यकता से अधिक जीवन के संसाधन जो आपको मिलते हैं और जो आपकी मिल्कियत में हैं, उनका सही और उचित इस्तेमाल केवल दो हैं। एक यह कि इनको अपनी सुख-सुविधा, मनोरंजन और ऐश में लगाओ और दूसरे यह कि इनको और अधिक संसाधनों पर क़ब्ज़ा करने के लिए इस्तेमाल करो और बन पड़े तो उन्हीं के ज़रिए इनसानों के ख़ुदा और अन्नदाता बन जाओ।

पहली शैतानी शिक्षा का नतीजा यह हुआ कि पूंजीपतियों ने समाज के उन लोगों का हक़ मानने से इनकार कर दिया जो धन के बंटवारे से हिस्सा पाने से वंचित रह जाते हैं या अपनी अस्ली ज़रूरतों से कम हिस्सा पाते हैं। उन्होंने इसे बिल्कुल वैध समझा कि उन लोगों को भुखमरी और दयनीय दशा में छोड़ दिया जाए। वे अपनी संकीर्ण दृष्टि के कारण यह न देख सके कि उनके इस रवैए से समाज के बहुत से लोग अपराध की राह पर चल पड़ते हैं, अज्ञानता और नैतिक गिरावट के शिकार होते हैं, शारीरिक कमज़ोरी और रोग में ग्रस्त होते हैं। उनकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तियाँ विकसित हो

पाने और मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में अपना भाग अदा करने से रह जाती हैं और इससे वह समाज समग्र रूप से नुक़सान उठाता है, जिसका पूंजीपति भी एक अंग हैं। इसी पर बस नहीं, बल्कि इन पूंजीपतियों ने अपनी वास्तविक ज़रूरतों से आगे बढ़कर अगणित आवश्यकताओं की अभिवृद्धि की और बहुत से इनसानों को, हालाँकि उन इनसानों की योग्यताओं को सभ्यता और संस्कृति की अच्छी से अच्छी सेवाओं में लगाया जा सकता था, अपनी स्वयं की गढ़ी हुई ज़रूरतों को पूरा करने के लिए इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। उनके लिए व्यभिचार एक आवश्यकता थी, जिसके लिए व्यभिचारणी स्त्रियों और निर्लज्ज व्यक्तियों की एक फ़ौज बन गई। उनके लिए राग-रंग की भी आवश्यकता थी, जिसके लिए गायकों, नर्तक-नर्तकियों, वादकों और वाद्य यन्त्रों को तैयार करनेवालों का एक और गिरोह तैयार किया गया। उनके लिए नाना प्रकार के मनोरंजनों की भी आवश्यकता थी, जिनके लिए हँसाड़ों, नक़्क़ालों (नक़ल करके लोगों का मनोरंजन करनेवालों) एक्टर और एक्ट्रेस (अभिनेत्रियाँ) का एक और बहुत बड़ा गरोह जुटाया गया। उनके लिए शिकार भी ज़रूरी था, जिसके लिए बहुत से लोगों को भले काम पर लगाने के बजाए उन्हें जंगलों में जानवरों को हाँकने पर लगा दिया गया। उनके लिए आनन्द-रस और आत्मविस्मृत भी एक ज़रूरत थी, इसके लिए बहुत से इनसान शराब, कोकीन, अफ़ीम और दूसरे मादक पदार्थों को जुटाने में लगा दिए गए। सारांश यह कि इस तरह शैतान के इन भाइयों ने इतने ही पर सन्तोष नहीं किया कि निर्दयता के साथ समाज के एक बड़े हिस्से को नैतिक, शारीरिक और आध्यात्मिक तबाही में ग्रस्त होने के लिए छोड़ दिया हो, बल्कि इसके अतिरिक्त एक ज़ुल्म यह भी किया कि समाज के एक और बड़े हिस्से को सही और उपयोगी कामों से हटाकर अशिष्ट, अपमानजनक और हानिकारक कामों में लगा दिया तथा सभ्यता की रफ़्तार को सही मार्ग से हटाकर ऐसे रास्तों की तरफ़ मोड़ दिया जो इनसानों को तबाही की ओर ले जाने वाले हैं। फिर मामले का अन्त यहीं नहीं हो गया। मानवीय पूँजी को नष्ट करने के साथ उन्होंने भौतिक पूंजी को भी ग़लत तरीक़े से इस्तेमाल किया। उनको महलों, कोठियों,

फुलवाड़ियों, मनोरंजन के स्थलों, नाचघरों आदि की ज़रूरत पड़ी, यहाँ तक कि मरने के बाद ज़मीन पर लेटने के लिए भी इन कमबख़्तों को एकड़ों ज़मीन और आलीशान भवनों की ज़रूरत पेश आई। इस तरह वह ज़मीन, वह निर्माण का सामान और वह मानव-श्रम, जो बहुत से लोगों के लिए निवास और आजीविका का प्रबन्ध करने के लिए पर्याप्त हो सकता था, एक-एक विलासी आदमी के आवास और ठिकानों पर लग गया। उनको आभूषणों, उत्तम वस्त्रों, उत्कृष्ट यन्त्रों व बर्तनों, शृंगार और साज-सज्जा की चीज़ों, शानदार सवारियों और न जाने किन-किन चीज़ों की ज़रूरत पेश आई। यहाँ तक कि इन ज़ालिमों के दरवाज़े भी क़ीमती परदों के बग़ैर नंगे समझे जाते थे। उनकी दीवारें भी सैकड़ों और हज़ारों रुपए की तस्वीरों से सुसज्जित हुए बग़ैर न रह सकती थीं। उनके कमरों की ज़मीन भी हज़ारों रुपए की क़ालीन ओढ़ना चाहती थी। उनके कुत्तों को भी मख़मल के गद्दे और सोने के पट्टे की ज़रूरत थी। इस तरह वह बहुत-सी सामग्री और वह प्रचुर मानव-श्रम जो हज़ारों लोगों के तन ढांकने एवं पेट भरने के काम आ सकता था, उसे एक-एक व्यक्ति की विलासिता और अय्याशी पर लगा दिया गया।

पूँजीवाद

यह तो शैतान के मार्गदर्शन के एक हिस्से का नतीजा था। दूसरे मार्गदर्शन के परिणाम इससे भी अधिक ख़राब निकले। यह सिद्धान्त कि अपनी अस्ली ज़रूरत से अधिक आजीविका के संसाधन आ गए हों, उनको वह एकत्र करता चला जाए और फिर और अधिक आजीविका के संसाधन प्राप्त करने के लिए इस्तेमाल करे तो पहली बात तो यह पूर्णतया ग़लत है। विदित है कि ईश्वर ने आजीविका की जो सामग्री धरती पर पैदा की है, उसे प्राणियों की वास्तविक ज़रूरतें पूरी करने के लिए पैदा की हैं। आपके पास सौभाग्य से अगर कुछ अधिक संसाधन आ गए हैं तो यह दूसरों का हिस्सा था, जो आप तक पहुँच गया। इसे एकत्र करने कहाँ चले? अपने चारों तरफ़ देखिए, जो लोग जीवन-सामग्री में से अपना हिस्सा प्राप्त करने के योग्य नज़र नहीं आते या उसे प्राप्त करने में असफल रह गए हैं या जिन्होंने अपनी

ज़रूरतों से कम पाया है, समझ लीजिए कि यही वे लोग हैं जिनका हिस्सा आप तक पहुँचा है, वे प्राप्त नहीं कर सके तो आप उन तक पहुँचा दो। यह सही काम करने के बजाए, अगर आप उन सामानों को और अधिक आर्थिक संसाधन प्राप्त करने के लिए इस्तेमाल करेंगे तो यह ग़लत काम होगा, क्योंकि बहरहाल आप वह अतिरिक्त सामग्री जो हासिल करेंगे आपकी ज़रूरत से और भी ज़्यादा होगी। फिर उनको हासिल करने की कोशिश सिवाय इसके कि आपकी लोभ-लिप्सा को पूरी करे और इसके सिवा इसमें और क्या अच्छाई का पहलू हो सकता है? जीविका की चीज़ें प्राप्त करने की कोशिश में आप अपने समय, श्रम और योग्यता का जितना भाग अपनी ज़िन्दगी की ज़रूरतें पूरी करने के लिए ख़र्च करते हैं, उसका व्यय तो सही और उचित रूप में होता है। मगर इस मौलिक आवश्यकता से अधिक चीज़ों को इस काम में लगाने का मतलब यह होता है कि आप आर्थिक पशु बल्कि धन पैदा करने की मशीन बन रहे हैं। हालाँकि आपको समय, श्रम, मानसिक और शारीरिक शक्तियों के लिए धनोपार्जन के सिवा और अच्छे काम भी हैं। अतः बुद्धि और प्रकृति के लिहाज़ से यह सिद्धान्त पूर्णरूप से ग़लत है जो शैतान ने अपने हासों को सिखाया है। लेकिन इस सिद्धान्त के आधार पर जो व्यावहारिक तरीक़े बनाए गए हैं वे इतने भर्त्सना के योग्य और उनके नतीजे इतने भयानक हैं कि उनका सही अन्दाज़ा लगाना भी अत्यन्त कठिन है।

ज़रूरत से अधिक आर्थिक संसाधनों एवं सम्पत्ति को और अधिक आर्थिक संसाधनों को अपने क़ब्ज़े में लाने के लिए इस्तेमाल करने की दो सूरतें हैं—

एक यह कि इन साधनों और सम्पत्ति को ब्याज पर क़र्ज़ दिया जाए।

दूसरे यह कि उन्हें व्यापारिक और औद्योगिक कार्यों में लगाया जाए।

ये दोनों विधियाँ अपनी प्रकृति में एक-दूसरे से भिन्न ज़रूर हैं लेकिन दोनों के संयुक्त रूप से व्यवहृत होने का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि समाज दो वर्गों में बंट जाता है। एक वह अल्प वर्ग जो अपनी ज़रूरत से अधिक आर्थिक संसाधन रखता है और अपने साधनों को और अधिक

संसाधन प्राप्त करने के लिए लगा देता है। दूसरा वह बड़ा वर्ग जो अपनी ज़रूरतों के अनुसार या इससे कम संसाधन रखता है या बिल्कुल नहीं रखता। इन दोनों वर्गों के हित न सिर्फ़ एक-दूसरे के विपरीत होते हैं बल्कि इनके बीच अनिवार्यतः संघर्ष और विवाद खड़ा हो जाता है। और इस तरह मानव की अर्थव्यवस्था, जिसे प्रकृति ने विनिमय और पारस्परिक लेन-देन पर आधारित बनाया था, वह एक प्रकार से विरोधात्मक प्रतियोगिता पर स्थापित होकर रह जाती है।

संघर्ष-व्यवस्था

फिर यह मुक़ाबला और संघर्ष जितना बढ़ता जाता है, मालदार वर्ग संख्या में कम और ग़रीब वर्ग अधिक होता चला जाता है, क्योंकि यह संघर्ष है ही कुछ इस प्रकार का कि जो ज़्यादा मालदार है वह अपने माल के बल पर कम मालदार लोगों के संसाधन भी खींच लेता है और उसे ग़रीब वर्ग में ढकेल देता है। इस प्रकार धरती के आर्थिक संसाधन दिन-प्रतिदिन आबादी के मुट्ठी भर पूँजीपतियों के पास सिमटते चले जाते हैं और दिन-प्रतिदिन आबादी का अधिक-से-अधिक भाग ग़रीब या पूँजीपतियों का मुहताज होता चला जाता है।

प्रारम्भ में यह लड़ाई छोटे पैमाने पर शुरू होती है, फिर बढ़ते-बढ़ते यह देशों और राष्ट्रों तक फैलती है, यहाँ तक कि सारे संसार को अपनी लपेट में लेकर भी 'और कुछ हो तो लाओ' ही की आवाज़ लगाती है। इसकी सूरत यह है कि जब एक देश का आम क़ानून यह हो जाता है कि जिन लोगों के पास अपनी आवश्यकता से अधिक माल हो, वे अपने अतिरिक्त माल लाभकारी कामों में लगाएँ और यह माल ज़रूरत के सामानों के निर्माण पर ख़र्च हो तो उनकी लगाई हुई पूरी रक़म का लाभ सहित लौटना इस बात पर निर्भर करता है कि जितनी वस्तुएँ देश में तैयार हुई हैं, वे सबकी सब उसी देश में ख़रीद ली जाएँ, परन्तु व्यवहारतः ऐसा नहीं होता; और वास्तव में यह हो भी नहीं सकता, क्योंकि ज़रूरत से कम माल रखनेवालों की क्रयशक्ति कम होती है। इसलिए वे ज़रूरतमन्द होने के बावजूद उन चीज़ों को नहीं ख़रीद सकते और आवश्यकता से अधिक माल रखनेवालों को यह चिन्ता

रहती है कि जितनी आमदनी हो उसमें से एक हिस्सा बचाकर लाभकारी कामों में लगाएँ। इसलिए वे अपना सब माल ख़रीदारी पर ख़र्च नहीं करते इस तरह अनिवार्य रूप से तैयार किए गए माल का एक हिस्सा बिना बिके रह जाता है, जिसका दूसरा अर्थ यह है कि पूंजीपतियों की लगाई हुई रक़म का एक भाग लौटने से रह गया और यह रक़म देश के उद्योग पर क़र्ज़ रही। यह केवल एक चक्कर का हाल है। आप अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसे जितने चक्कर होंगे, उनमें से प्रत्येक में मालदार तबक़ा अपनी प्राप्त आय का एक हिस्सा फिर लाभकारी कामों में लगाता चला जाएगा और जो रक़म वापस होने से रह जाती है, उनकी मात्रा हर चक्कर में बढ़ती चली जाएगी तथा देश के उद्योग पर ऐसे क़र्ज़ का बोझ दोगुना, चौगुना, हज़ार गुना होता चला जाएगा, जिसको वह देश स्वयं कभी अदा नहीं कर सकता। इस प्रकार एक देश को दीवालिएपन का जो ख़तरा आ पड़ता है, उससे बचने का उपाय इसके अतिरिक्त कोई नहीं कि जितना माल देश में बिकने से रह जाए, उसे दूसरे देशों में ले जाकर बेचा जाए; यानी ऐसे देश तलाश किए जाएँ, जिनकी ओर ये देश अपने दीवालियेपन को स्थानान्तरित कर दे।

इस प्रकार यह लड़ाई देश की सीमाओं से गुज़रकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क़दम रखती है। अब यह स्पष्ट है कि कोई एक देश ही ऐसा नहीं है जो इस शैतानी अर्थव्यवस्था पर चल रहा हो बल्कि संसार के अधिकतर देशों का यही हाल है कि वे अपने आपको दीवालियेपन से बचाने के लिए या दूसरे शब्दों में अपने दीवालियेपन को किसी और देश पर डाल देने के लिए मजबूर हो गए हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है और वह कुछ रूप अपनाती हैं—

एक यह कि प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में अपना माल बेचने के लिए कोशिश करता है कि कम-से-कम लागत पर अधिक-से-अधिक माल तैयार करे। इस उद्देश्य से कर्मचारियों के वेतन बहुत कम रखे जाते हैं और आर्थिक कारोबार में देश की आम जनता इतना कम हिस्सा पाती है कि उसकी मौलिक आवश्यकताएँ भी नहीं पूरी होतीं।

दूसरा यह कि हर देश अपनी सीमा में और उस क्षेत्र में जो उसके प्रभाव

में होते हैं, दूसरे देश का माल आने पर प्रतिबन्ध लगाता है और कच्चे माल के उत्पादन के जितने साधन उसके अधिकार में हैं, उनपर भी पहरे बैठाता है ताकि दूसरा देश उनसे फ़ायदा न उठा सके। इससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष पैदा होता है, जिसका परिणाम युद्ध होता है।

तीसरा यह कि ऐसे देश जो इस दीवालियेपन की मुसीबत को अपने सिर आने से नहीं रोक सकते, उनपर ये लुटेरे टूट पड़ते हैं और केवल अपने देश के बचे-खुचे माल ही को उनमें बेचने की कोशिश नहीं करते बल्कि जिस धन को ख़ुद अपने यहाँ लाभकारी काम में लगाने की गुंजाइश नहीं होती, उसे भी उन देशों में ले जाकर लगाते हैं। इस प्रकार अन्ततः उन देशों में भी वही समस्या पैदा हो जाती है जो प्रारम्भ में पूँजी लगानेवाले देशों में पैदा हुई थी, यानी जितनी पूँजी वहाँ लगाई जाती है, वह सारा का सारा वसूल नहीं हो सकती। और उस पूँजी से जितनी भी आमदनी होती है, उसका एक बड़ा हिस्सा फिर और अधिक लाभकारी कामों में लगा दिया जाता है, यहाँ तक कि उन देशों पर क़र्ज़ का भार इतना बढ़ता चला जाता है कि अगर स्वयं उन देशों को बेच दिया जाए, तब भी लगाई हुई कुल रक़म वापस नहीं हो सकती।

स्पष्ट है कि अगर यह चक्र इसी प्रकार चलता रहे तो अन्ततः सारी दुनिया दीवालिया हो जाएगी और धरती पर कोई ऐसा भू-भाग शेष न रहेगा, जिसकी ओर इस दीवालियेपन के संकट को स्थानान्तरित किया जा सके, यहाँ तक कि फिर यह आवश्यकता होगी कि मंगल, वृहस्पति और शुक्र ग्रहों में रुपए लगाने और अतिरिक्त माल को खपाने के लिए बाज़ार तलाश किए जाएँ।

दलाली की व्यवस्था

इस विश्वव्यापी आर्थिक युद्ध में बैंकरों, आढ़तियों और उद्योग-व्यापार के पूंजीपतियों का मुट्ठी-भर गिरोह सारी दुनिया के आर्थिक संसाधनों पर इस तरह हावी हो गया है कि सारी मानवजाति उनके सामने बिल्कुल निस्सहाय होकर रह गई है। अब किसी व्यक्ति के लिए लगभग यह असम्भव हो गया है कि वह अपने हाथ-पैर की मेहनत से और अपने दिमाग़ की योग्यता से

कोई काम स्वतन्त्र रूप से कर सके और ईश्वर की धरती पर जो जीवन के संसाधन मौजूद हैं उनमें से खुद कोई हिस्सा हासिल कर सके। छोटे व्यापारी, छोटे कारीगर और छोटे किसान के लिए आज संसार में हाथ-पैर मारने की कोई गुंजाइश बाक़ी नहीं रह गई है। सबके सब मजबूर हैं कि आर्थिक कारोबार के इन बादशाहों के गुलाम और नौकर तथा मज़दूर बनकर रहे और ये लोग कम-से-कम जीवन-सामग्री के बदले में उनके शरीर और मस्तिष्क की सारी शक्तियाँ और उनका सारा समय ले लेते हैं, जिसके कारण पूरी मानव-जाति बस एक आर्थिक पशु बनकर रह गई है। बहुत कम सौभाग्यशाली लोगों को इस आर्थिक संघर्ष में इतनी फ़ुरसत मिल पाती है कि अपने नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए भी कुछ कर सकें और किसी ऐसे उद्देश्य की ओर ध्यान दे सकें जो पेट भरने के उद्देश्य से ऊँचा हो। और अपने व्यक्तित्व के उन तत्वों को भी विकसित कर सकें जो रोज़ी की तलाश के अतिरिक्त दूसरे पवित्रतम उद्देश्यों के लिए ईश्वर ने उनके अन्दर रखे थे। वास्तव में इस शैतानी व्यवस्था के कारण आर्थिक संघर्ष इतना घिनावना रूप धारण कर लेता है कि जीवन के सभी दूसरे विभाग इसके कारण बेकार और निष्क्रिय हो जाते हैं।

इससे बढ़कर मनुष्य का यह दुर्भाग्य है कि संसार के नैतिक दर्शन, राजनीतिक व्यवस्थाएँ और क़ानूनी सिद्धान्त भी इस शैतानी अर्थव्यवस्था से प्रभावित हो गए। पूरब से पश्चिम तक हर तरफ़ नैतिकता के आचार्य मितव्ययता बरतने पर ज़ोर दे रहे हैं। जितना कमाना, उतना ही ख़र्च कर देना एक मूर्खता और एक नैतिक दोष समझा जाता है और हर व्यक्ति को यह शिक्षा दी जाती है कि अपनी आय में से कुछ-न-कुछ बचा कर बैंक में डिपाज़िट रखे या बीमा पॉलिसी ख़रीदे या कम्पनियों के शेयर में निवेश करे। मानो जो चीज़ मानवता का विनाश करनेवाली है, वही नैतिकता की दृष्टि में अच्छाई का मापदण्ड बन गई है। रही राजनीतिक शक्ति तो वह व्यवहारतः बिल्कुल ही एक शैतानी व्यवस्था के क़ब्ज़े में आ चुकी है। वह इस जुल्म से मनुष्यों को बचाने के बजाए खुद जुल्म करने की मशीन बनी हुई है और हर तरफ़ शासन की कुर्सियों पर शैतान के एजेन्ट बैठे नज़र आते

हैं। इसी तरह संसार के क़ानून भी इस प्रभावाधीन संयोजित हो रहे हैं।

इन क़ानूनों ने लोगों को व्यवहारतः पूरी छूट दे रखी है कि वे जिस तरह चाहें अपने आर्थिक लाभों के लिए प्रयास करें चाहे वह समाज के हित के विपरीत क्यों न हो। रुपए कमाने के तरीक़ों में वैध और अवैध का अन्तर लगभग लुप्त हो गया है। हर वह तरीक़ा जिससे कोई व्यक्ति दूसरों को लूटकर या तबाह करके धनवान बन सकता हो, क़ानून की नज़र में जायज़ है। शराब बनाइए और बेचिए, व्यभिचार के अड्डे स्थापित कीजिए, कामोत्तेजक फ़िल्में बनाइए, अश्लील निबन्ध लिखिए, वासनामय भावनाओं को भड़कानेवाली तस्वीरें प्रकाशित कीजिए, सट्टे का कारोबार फैलाइए, सूदख़ोरी की संस्थाएँ स्थापित कीजिए और जुएबाज़ी के नए-नए तरीक़े निकालिए, सारांश यह कि जो चाहे कीजिए, क़ानून न केवल आपको इसकी अनुमति देगा बल्कि उल्टे आपके अधिकारों की रक्षा भी करेगा। फिर इस तरीक़े से जो धन सिमटकर एक व्यक्ति के पास जमा हो गया हो, क़ानून यह चाहता है कि वह उसके मरने के बाद भी एक ही जगह सिमटा रहे। अतएव बड़े बेटे के वारिस होने का नियम (Rule of Primogeniture) और कुछ क़ानूनों में लेपालक बनाने का तरीक़ा एवं संयुक्त परिवार का नियम (Joint Family System)—इन सबका उद्देश्य यही है कि ख़ज़ाने का एक सांप जब मरे तो उसपर दूसरा सांप बिठा दिया जाए और अगर दुर्भाग्य से उस सांप ने कोई सपोला न छोड़ा हो तो कहीं और से एक सपोला प्राप्त किया जाए ताकि धन के इस सिमटाव में कोई अन्तर न आने पाए।

ये कारण हैं जिनसे मानव-जाति के लिए यह समस्या पैदा हुई है कि ईश्वर की इस धरती पर हर व्यक्ति को जीवन-सामग्री पहुँचाने का प्रबन्ध किस प्रकार किया जाए और हर व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने तथा अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के अवसर कैसे मिलें?

साम्यवाद का प्रस्तावित हल

इस समस्या के हल का एक उपाय साम्यवाद ने पेश किया है और वह यह है कि धन के उत्पादन के संसाधनों को निजी सम्पत्ति से निकालकर उसे सामाजिक सम्पत्ति बना दिया जाए और लोगों में आजीविका वितरण का

प्रबन्ध भी समाज को सौंप दिया जाए। देखने में यह हल अत्यन्त उचित नज़र आता है, लेकिन इसके व्यावहारिक पहलुओं पर आप जितना विचार करेंगे, उतने ही इसके दोष आपके सामने आते चले जाएँगे, यहाँ तक कि आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि अन्ततः इसके परिणाम भी उतने ही ख़राब हैं, जितने उस बीमारी के परिणाम हैं, जिसका इलाज करने के लिए इसे अपनाया गया है।

नया वर्ग

यह बिल्कुल एक स्पष्ट बात है कि उत्पादन के साधनों से काम लेने और पैदावार को वितरित करने का प्रबन्ध चाहे सैद्धान्तिक तौर पर पूरे समाज के हवाले कर दिया जाए, मगर व्यवहारतः यह काम एक छोटी-सी प्रशासनिक व्यवस्था के ही सुपुर्द करना होगा। यह छोटा गिरोह शुरू में समाज ही का चुना हुआ ही सही, लेकिन जब जीविका के सभी साधन उसी के क़ब्ज़े में होंगे और उसी के हाथों से लोगों तक पहुँच सकेंगे तो सारी आबादी उसकी मुट्ठी में विवश होकर रह जाएगी। उसकी इच्छा के विरुद्ध देश में कोई भी व्यक्ति सांस तक नहीं ले सकेगा और न ही उसके मुक़ाबले में कोई ऐसा संगठित दल उभर सकेगा जो उसको उस आधिपत्य के पद से हटा सके। किसी से उसकी नज़र के फिरने का अर्थ यह होगा कि वह इस धरती पर जीवन बिताने के सभी साधनों से वंचित हो जाए। क्योंकि सभी संसाधनों पर उस छोटे गिरोह ही का क़ब्ज़ा होगा। मज़दूरों में इतनी शक्ति और साहस न होगा कि उसकी व्यवस्था से नाराज़ हों तो हड़ताल कर दें, क्योंकि वहाँ बहुत से उद्योगपति न होंगे कि अगर कोई एक के द्वार से उठे तो दूसरे के द्वार पर चला जाए, बल्कि पूरे देश में एक ही उद्योगपति होगा और वही शासक भी होगा। और उसके ख़िलाफ़ किसी जनमत की सहानुभूति भी नहीं प्राप्त की जा सकेगी। इस प्रकार यह दशा जिस नतीजे में जाकर समाप्त होगी, वह यह है कि समस्त पूँजीपतियों को खाकर एक बड़ा पूँजीपति सम्पूर्ण उद्योगपतियों और ज़मींदारों को खाकर एक बड़ा उद्योगपति और ज़मींदार लोगों पर छा जाए और वही एक समय में ज़ार भी हो और क़ैसर भी।

क्रूर व्यवस्था

सबसे पहली बात तो यह कि राजसत्ता और ऐसा निरंकुश आधिपत्य वह चीज़ है जिसके नशे में बहककर क्रूर और अत्याचारी बनने से बचना इनसान के लिए बहुत कठिन है। विशेष रूप से जबकि वह अपने ऊपर किसी ईश्वर का और उसके सामने जवाब देने का यक़ीन भी न रखता हो। फिर भी अगर यह मान लिया जाए कि ऐसे निरंकुश सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के बाद भी यह छोटा-सा गिरोह आपे से बाहर नहीं होगा और न्याय ही के साथ काम करेगा, तब भी ऐसी एक व्यवस्था में व्यक्तियों के लिए अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का कोई अवसर नहीं हो सकता। मानव-व्यक्तित्व अपने विकास के लिए सबसे बढ़कर जिस चीज़ की मुहताज है, वह यह है कि उसे स्वतन्त्रता प्राप्त हो, कुछ साधन उसके अपने हाथ में हों, जिन्हें वह अपने अधिकार से इस्तेमाल कर सके तथा उन साधनों पर अपनी रुचि के अनुसार काम करके अपनी छुपी हुई शक्तियों को उभारे और चमकाए। मगर साम्यवादी व्यवस्था में इसकी कोई सम्भावना नहीं। उसमें संसाधन व्यक्तियों के अधिकार में नहीं रहते, बल्कि समाज की प्रशासनिक व्यवस्था के हाथों में चले जाते हैं और वह प्रशासनिक व्यवस्था सामाजिक हित की जो धारणा रखती है, उसी के अनुसार उन संसाधनों को काम में लाती है। लोगों के लिए इसके सिवा कोई चारा नहीं है कि वे यदि उन साधनों से लाभ उठाना चाहें तो उस नक़्शे के मुताबिक़ काम करें बल्कि उसी नक़्शे के मुताबिक़ जो उन्होंने सामाजिक हित के लिए प्रस्तावित किया है यह चीज़ व्यवहारतः समाज के तमाम अपने आपको ढाले जाने के लिए ख़ुद उन प्रबन्धकों के सुपुर्द कर दे, लोगों को कुछ व्यक्तियों के क़ब्ज़े में इस तरह दे देती है कि मानो वे सब निर्जीव कच्चा माल हैं और जैसे चमड़े के जूते और लोहे के पुर्ज़े बनाए जाते हैं, उसी तरह वे थोड़े से लोग इसका अधिकार रखते हैं कि वे बहुत से लोगों को अपने नक़्शे के मुताबिक़ ढालें और बनाएँ।

व्यक्तित्व की हत्या

मानव-सभ्यता और संस्कृति के लिए यह व्यवस्था इतनी अधिक हानिकारक है कि अगर थोड़ी देर के लिए हम मान भी लें कि इस प्रणाली

के अन्तर्गत जीवन-सामग्री न्याय के साथ वितरित भी होगी तो भी इसका लाभ उस हानि की अपेक्षा नगण्य हो जाता है। संस्कृति और सभ्यता का पूर्ण विकास इस पर निर्भर करता है कि विभिन्न व्यक्ति जो विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ और योग्यताएँ लेकर पैदा होते हैं, उनको पूरी तरह विकसित करने और फिर इस संयुक्त जीवन में उन्हें अपना-अपना हिस्सा अदा करने का मौक़ा मिले। यह बात ऐसी प्रणाली में सम्भव नहीं हो सकती जिसमें मानवों की प्लानिंग की जाती हो। थोड़े से लोग चाहे वे कितने ही योग्य और कितने ही शुभचिन्तक क्यों न हों, बहरहाल इतने ज्ञानवान और ख़बर रख़नेवाले नहीं हो सकते कि लाखों और करोड़ों व्यक्तियों की पैदाइशी योग्याताओं और उनकी स्वाभाविक रुचियों का सही अन्दाज़ा कर सकें। और फिर उनके विकास और उन्नति का ठीक-ठीक मार्ग निश्चित कर सकें। वे इसमें अज्ञान के कारण भी ग़लती करेंगे और सामाजिक हित या सामाजिक ज़रूरतों के सम्बन्ध में जो उनका अन्दाज़ा होगा, उसकी दृष्टि से भी यह चाहेंगे कि उनके प्रभाव में इनसानों की जितनी आबादी हो, उनके नक़्शे पर ढाल दी जाए। इससे सभ्यता की रंगारंगी का अन्त हो जाएगा और वह एक निर्जीव समानता का रूप धारण कर लेगी। इससे सभ्यता का स्वाभाविक विकास रुक जाएगा और एक तरह का कृत्रिम बनावटी विकास शुरू हो जाएगा। इससे मानवीय शक्तियाँ ठिठुरती चली जाएँगी और अन्ततः एक भारी मानसिक और नैतिक ह्रास सामने आ खड़ा होगा। मनुष्य किसी भी स्थिति में क्यारी की घास और बेल-बूटे नहीं हैं कि एक माली उन्हें काट-छांटकर ठीक-ठाक करे और वे उसी के नक़्शे पर घटते और बढ़ते रहें। हर व्यक्ति अपनी एक विशिष्ट पहचान रखता है जो अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ना चाहता है। आप उसकी यह स्वतन्त्रता छीनोगे तो वह आपके नक़्शे पर नहीं बढ़ेगा, बल्कि विद्रोह करेगा या मुरझाकर रह जाएगा।

साम्यवाद की बुनियादी ग़लती यह है कि वह आर्थिक समस्या को केन्द्रीय समस्या ठहराकर पूरे मानव-जीवन को उसके गिर्द घुमा देता है। जीवन की किसी समस्या पर भी उसकी अपनी दृष्टि शोधात्मक दृष्टि नहीं है, बल्कि सारी समस्याओं को वह एक गहरे आर्थिक पक्षपात की दृष्टि से

देखती है। अभौतिक विषय, नीतिशास्त्र, इतिहास, विज्ञान, समाजशास्त्र हर चीज़ उसकी परिधि में आर्थिक दृष्टिकोण से परास्त एवं प्रभावित है और इस एकरुख़ेपन के कारण जीवन का पूरा सन्तुलन बिगड़ जाता है।

फॉसीवादी हल

स्पष्ट है कि साम्यवादी दृष्टिकोण मनुष्य की आर्थिक समस्या का कोई सही स्वाभाविक हल नहीं है, बल्कि एक अस्वाभाविक और कृत्रिम हल है। इसकी तुलना में दूसरा हल फॉसीवाद और राष्ट्रीय समाजवाद ने पेश किया है; और वह यह है कि आर्थिक साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार तो बाक़ी रहे मगर सामाजिक हित के लिए इस अधिकार को राज्य के कड़े नियन्त्रण में रखा जाए। किन्तु व्यवहारतः इसके नतीजे भी साम्यवादी दृष्टिकोण के परिणामों से कुछ अधिक भिन्न दिखाई नहीं देते। साम्यवाद की तरह यह दृष्टिकोण भी व्यक्ति को समष्टि में लुप्त कर देता है और उसके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास का कोई अवसर बाक़ी नहीं छोड़ता। इसके अतिरिक्त जो सरकार इस वैयक्ति कार्य शक्ति को अपने नियन्त्रण में रखती है, वह उतनी ही क्रूर और निरंकुश होती है जितनी साम्यवादी सरकार। एक बड़े देश के सभी उद्योगों को अपने नियन्त्रण में रखने और अपने दिए हुए नक़्शे पर काम करने के लिए मजबूर करने के लिए एक बड़ी ज़बरदस्त अदमनीय शक्ति की ज़रूरत होती है और जिस सरकार के हाथों में ऐसी अदमनीय शक्ति हो, उसके हाथ में देश की जनता का बेबस हो जाना और शासकों का ग़ुलाम बनकर रह जाना बिलकुल विश्वसनीय है।

इस्लामी समाधान

अब मैं यह बताऊँगा कि इस्लाम किस तरह इस समस्या को हल करता है। इस्लाम ने जीवन की सभी समस्याओं में इस नियम को सामने रखा है कि ज़िन्दगी के जो सिद्धान्त स्वाभाविक और प्राकृतिक हैं, उनको बाक़ी रखा जाए और जहाँ वह स्वाभाविक मार्ग से विचलित हुआ है, वहीं से उसको मोड़कर स्वाभाविक मार्ग पर डाल दिया जाए। दूसरा महत्वपूर्ण नियम जिस पर इस्लाम के समस्त सामाजिक सुधार निर्भर हैं, वह यह हैं कि केवल बाह्य रूप से सांस्कृतिक व्यवस्था में कुछ नियम जारी करने ही पर संतोष न कर

लिया जाए, बल्कि सबसे अधिक बल नैतिक और मानसिक सुधार पर दिया जाए, ताकि मानवीय मानस में पैदा होनेवाली ख़राबी की जड़ कट जाए। तीसरा मौलिक नियम, जिसकी झलक आपको सम्पूर्ण इस्लामी जीवन-विधान में मिलेगी, यह है कि शासन के बल और क़ानून के ज़ोर से सिर्फ़ वही काम लिया जाए, जहाँ इसके बिना काम न चल सके।

इन तीनों नियमों को दृष्टि में रखते हुए इस्लाम जीवन के आर्थिक विभाग में उन सभी अस्वाभाविक सिद्धान्तों को अधिक से अधिक नैतिक सुधार और कम-से-कम प्रशासनिक हस्तक्षेप के ज़रिए से मिटाता है, जो शैतान के प्रभाव से इनसान ने अपनाए हैं। यह बात कि इनसान अपनी आजीविका के लिए प्रयास करने में स्वतन्त्र हो, यह बात कि इनसान अपने श्रम से जो कुछ प्राप्त करे उस पर उसे स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हों और यह कि इनसानों के बीच उनकी योग्यताओं और उनकी परिस्थितियों के लिहाज़ से अन्तर हो। इन सब चीज़ों को इस्लाम उस हद तक स्वीकार करता है, जिस हद तक ये प्रकृति के अनुकूल हैं। फिर वह उनपर ऐसे प्रतिबन्ध लगाता है जो उन्हें मर्यादा को तोड़ने और अन्याय व नाइनसाफ़ी का कारण न बनने दे।

धन की प्राप्ति

सबसे पहले धन कमाने के सवाल को लीजिए। इस्लाम ने मनुष्य के इस अधिकार को स्वीकार किया है कि ईश्वर की धरती में वह अपनी रुचि और क्षमता और योग्यता के अनुसार स्वयं अपनी आजीविका तलाश करे, लेकिन वह उसको यह अधिकार नहीं देता कि वह अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिए नैतिकता को ख़राब करनेवाले या सभ्यता की व्यवस्था को बिगाड़ने-वाले साधन अपनाए। वह आजीविका कमाने के साधनों में हराम (अवैध) और हलाल (वैध) का अन्तर निर्धारित करता है और अत्यन्त विस्तार के साथ चुन-चुनकर एक-एक हानिकारक तरीक़े को अवैध और हराम कर देता है। उसके क़ानून में शराब और दूसरे मादक पदार्थ न केवल अपने स्थान पर अवैध हैं बल्कि उनका बनाना, बेचना, ख़रीदना और रखना सब अवैध हैं। वह व्यभिचार, राग-रंग और इसी प्रकार के दूसरे साधनों को भी

आजीविका की कमाई का वैध साधन नहीं मानता। वह ऐसे सभी साधनों को भी अवैध ठहराता है, जिनमें एक व्यक्ति का लाभ दूसरे लोगों की या समाज की हानि पर निर्भर करता हो। घूस, चोरी, जुआ और सट्टा, धोखा और फ़रेब के कारोबार, जमाख़ोरी अर्थात ज़रूरत के सामानों को इसलिए रोके रखना कि क़ीमतें बढ़ जाएँ, उत्पादन के साधनों को एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार ठहराना कि दूसरों के लिए प्रयास क्षेत्र तंग होकर रह जाए—इन सब तरीक़ों को उसने हराम (अवैध) ठहराया है। इसके अतिरिक्त कारोबार की ऐसी सभी शक्लों को उसने काट-छांटकर अवैध घोषित ठहरा दिया है जो अपनी आकार-प्रकार की दृष्टि से विवाद पैदा करनेवाली हो या जिनमें लाभ-हानि बिलकुल भाग्य और संयोग पर आधारित हो या जिनमें दोनों पक्षों के बीच अधिकार निश्चित न हों। अगर आप इस्लाम के इस व्यापारिक क़ानून का विस्तृत अध्ययन करें तो आपको मालूम होगा कि आज जिन तरीक़ों से लोग करोड़पति और अरबपति बनते हैं, उनमें से अधिकतर वे तरीक़े हैं, जिनपर इस्लाम ने सख़्त क़ानूनी प्रतिबन्ध लगा दिए हैं। वह धनोपार्जन के जिन साधनों को वैध ठहराता है, उनकी परिधि में सीमित रहकर काम किया जाए तो लोगों के लिए अपार धन समेटे चले जाने की बहुत कम सम्भावना शेष रहती है।

सम्पत्ति अधिकार

अब देखिए, इनसान जायज़ तरीक़े से जो कुछ प्राप्त करे, उसे इस्लाम उस व्यक्ति की मिल्कियत क़रार देता है, किन्तु उसके उपभोग में उसे बिल्कुल आज़ाद नहीं छोड़ता, बल्कि उसपर भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है। स्पष्ट है कि इस कमाई हुई दौलत के इस्तेमाल की तीन सूरतें ही सम्भव हैं या उसको ख़र्च कर दिया जाए या उसे और अधिक लाभदायक कामों पर लगाया जाए या उसे जमा किया जाए। इनमें से एक-एक पर इस्लाम ने जो पाबन्दियाँ लगाई हैं, उन्हें संक्षेप में यहाँ बयान करता हूँ।

व्यय के सिद्धान्त

ख़र्च करने के जितने तरीक़े नैतिकता को हानि पहुँचानेवाले हैं या जिनसे समाज को हानि पहुँचती है वे सब वर्जित हैं। आप जुए में अपनी दौलत नहीं

उड़ा सकते, आप शराब नहीं पी सकते, आप व्यभिचार नहीं कर सकते, आप गाने-बजाने, नाच-रंग और विलासिता के दूसरे कार्यों में अपना रुपया नहीं बहा सकते। आप रेशमी वस्त्र नहीं पहन सकते[1], आप सोने और जवाहरात के आभूषणों या बर्तन इस्तेमाल नहीं कर सकते[2], और आप तस्वीरों से अपनी दीवारों को नहीं सजा सकते, सारांश यह कि इस्लाम ने उन सभी दरवाज़ों को बन्द कर दिया है, जिनसे इनसान के धन का अधिकतम भाग उसकी अपनी विलासिता पर ख़र्च हो जाता है। वह ख़र्च के जिन-जिन रूपों की अनुमति देता है, वे इस प्रकार के हैं कि आदमी मात्र एक औसत दर्जे की शिष्ट और पवित्र ज़िन्दगी बसर करे और उससे अधिक अगर कुछ बचता हो तो उसे ख़र्च करने का रास्ता उसने यह प्रस्तावित किया है कि उसे नेकी और भलाई के कामों में, जनहित के कार्यों में और उन लोगों की सहायता में ख़र्च किया जाए जो आर्थिक धन में से अपनी ज़रूरतों के अनुसार हिस्सा पाने से वंचित रह गए हैं। इस्लाम की नज़र में सबसे अच्छी कार्य-शैली यह है कि आदमी जो कुछ कमाए, उसे अपनी जायज़ और उचित ज़रूरतों पर ख़र्च करे और फिर भी जो बच जाए, उसे दूसरों को दे दे, ताकि वे अपनी ज़रूरतों पर ख़र्च करें। इस गुण को इस्लाम ने उच्चतम स्तर की नैतिकता में सम्मिलित किया है और एक आदर्श के रूप में इसको इतना ज़ोर देकर पेश किया है कि जब कभी समाज में इस्लामी नैतिकता का बोलबाला होगा, सामाजिक जीवन में वे लोग अधिक आदर की दृष्टि से देखे जाएँगे जो कमाएँ और ख़र्च कर दें और उन लोगों को अच्छी दृष्टि से न देखा जाएगा जो धन को समेट-समेटकर रखने की कोशिश करें या कमाई हुई दौलत के बचे हुए हिस्से को फिर कमाने के काम में लगाना शुरू कर दें।

पूँजीपतियों के द्वारा शोषण

फिर भी विशुद्ध नैतिक शिक्षा के द्वारा और समाज के नैतिक प्रभाव और दबाव से अत्यधिक लोभ और लोलुपता रखनेवाले लोगों की कमज़ोरियों का

1. इस्लाम स्त्रियों को रेशमी वस्त्र पहनने की इजाज़त देता है। सिर्फ़ पुरुषों पर यह प्रतिबन्ध है।
2. सोने और जवाहरात के आभूषण स्त्रियाँ पहन सकती हैं, पुरुष नहीं।

पूरे तौर पर उन्मूलन नहीं किया जा सकता। इसके बावजूद फिर भी बहुत से ऐसे लोग बाक़ी रहेंगे जो अपनी ज़रूरतों से अधिक कमाई हुई दौलत को फिर और अधिक धन कमाने में लगाना चाहेंगे। इसलिए इस्लाम ने उसके इस्तेमाल के तरीक़ों पर कुछ क़ानूनी पाबन्दियाँ लगा दी हैं। इस बची हुई दौलत के इस्तेमाल का यह तरीक़ा कि उसे ब्याज पर चलाया जाए, इस्लामी क़ानून में पूर्णतः हराम है। अगर आप किसी को अपना माल क़र्ज़ देते हैं तो चाहे उसने वह क़र्ज़ अपनी ज़रूरतों पर ख़र्च करने के लिए लिया हो या जीविका के साधन पैदा करने के लिए, प्रत्येक दशा में आप उससे केवल अपना मूलधन ही वापस लेने के हक़दार हैं। इस तरह इस्लाम ज़ुल्म पर आधारित पूँजीवाद की कमर तोड़ देता है और उस सबसे बड़े हथियार को कुन्द कर देता है, जिसके द्वारा पूँजीपति केवल अपनी पूँजी के बल पर आसपास के आर्थिक धन को समेटता चला जाता है। रहा बचे धन के इस्तेमाल का यह तरीक़ा कि उसे व्यक्ति चाहे अपने व्यापार, उद्योग या दूसरे कारोबार में लगाए या दूसरों के साथ लाभ-हानि में सम्मिलित होकर पूंजी जुटाए तो इस्लाम उसे जायज़ क़रार देता है और इससे जो आवश्यकता से अधिक धन लोगों के पास सिमट जाता है, उसका इलाज वह दूसरे तरीक़े से करता है।

धन का वितरण और आम लोगों की देखभाल

इस्लाम ने ज़रूरत से अधिक धन जमा करने को ऐब ठहराया है जैसा कि अभी मैं कह चुका हूँ। उसकी माँग यह है कि जो कुछ माल आपके पास है या तो उसे अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़रीदने पर ख़र्च करो या किसी जायज़ कारोबार में लगाओ या दूसरों को दो कि वह अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़रीदें और इस तरह पूरी दौलत बराबर गर्दिश में रहे। लेकिन आप अगर ऐसा नहीं करते और जमा करने ही पर हठ करते हैं तो आपकी उस जमा की हुई दौलत में से क़ानून के अनुसार ढाई प्रतिशत रक़म वार्षिक दर से निकलवा ली जाएगी और उसे उन लोगों की सहायता में ख़र्च किया जाएगा जो आर्थिक रूप से अत्यन्त कमज़ोर हैं या संघर्ष और प्रयास के बावजूद आर्थिक दृष्टि से विवश रह जाते हैं। इसी चीज़ का नाम ज़कात है और इसके प्रबन्ध का

जो तरीक़ा इस्लाम ने पेश किया है वह यह है कि उसे समाज के संयुक्तकोष में जमा किया जाए और कोष उन सभी लोगों की ज़रूरतों की देख-रेख का ज़िम्मेदार बन जाए, जिन्हें मदद की ज़रूरत है। यह वास्तव में समाज के लिए बीमा का बेहतरीन तरीक़ा है और उन सभी ख़राबियों का उन्मूलन करता है जो सामूहिक मदद और सहयोग का समुचित प्रबन्ध न होने से पैदा होती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जो चीज़ लोगों को दौलत जमा करने और उसे लाभदायक कामों में लगाने पर मजबूर करती है और जिसकी वजह से जीवन बीमा आदि की आवश्यकता होती है, वह यह है कि हर व्यक्ति की ज़िन्दगी इस व्यवस्था में अपने ही साधनों पर निर्भर है। वह बूढ़ा हो जाए और कुछ बचाकर न रखा हो तो भूखों मर जाए। बाल-बच्चों के लिए कुछ छोड़े बग़ैर मरे तो बाल-बच्चे दर-दर मारे-मारे फिरें और भीख का टुकड़ा तक न पा सकें। बीमार हो जाए और कुछ बचा-बचाया न रखा हो तो इलाज तक न करा सके। घर जल जाए या कारोबार में नुक़्सान हो या कोई और आपदा अचानक आ जाए तो किसी तरफ़ से उसको सहारा मिलने की उम्मीद नहीं। इसी तरह पूँजीवादी व्यवस्था में जो चीज़ श्रमिक वर्ग के लोगों को पूँजीपतियों का धन देकर ख़रीदा हुआ ग़ुलाम बन जाने और उनकी शर्तों पर काम करने के लिए मजबूर कर देती है, वह भी यही है कि जो कुछ उसकी मेहनत का बदला पूँजीपति देता है, उसे ग़रीब आदमी यदि लेना स्वीकार न करे तो भूखा मरे और नंगा फिरे। पूँजीपति की बख़्शिश से मुँह मोड़कर उसे दो वक़्त की रोटी मिलनी मुश्किल है। फिर यह बड़ी लानत जो आज पूँजीवादी व्यवस्था के कारण संसार को घेरे हुए है कि एक तरफ़ लाखों करोड़ों इनसान मुहताज मौजूद हैं और दूसरी तरफ़ ज़मीन की पैदावार और कारख़ानों में बने सामानों के ढेर लगे हुए हैं, मगर ख़रीदे नहीं जा सकते, यहाँ तक कि लाखों मन गेहूँ समुद्र में फेंका जाता है और भूखे इनसानों के पेट तक नहीं पहुँचता। इसका कारण भी यही है कि मुहताज इनसानों तक जीवन-सामग्री पहुँचाने का कोई प्रबन्ध नहीं है। इन सबके अन्दर क्रय शक्ति पैदा कर दी जाए और वे अपनी ज़रूरत और इच्छा के मुताबिक़ वस्तुएँ ख़रीदने के योग्य हो जाएँ तो व्यापार, उद्योग और कृषि, मतलब यह कि हर

मानवीय उद्यम फलता-फूलता चला जाए। इस्लाम ज़कात और बैतुलमाल (सरकारी ख़ज़ाना) के द्वारा इन सारी ख़राबियों को दूर करता है। बैतुलमाल हर समय आपके लिए एक मददगार की हैसियत से मौजूद है। आपको किसी भी प्रक़ार की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। जब आपको ज़रूरत हो बैतुलमाल में जाएँ और अपना हक़ ले आएँ। फिर बैंक डिपाज़िट और जीवन-बीमा पॉलिसी की क्या ज़रूरत? आप अपने बाल-बच्चों को छोड़कर इत्मीनान के साथ दुनिया से विदा हो सकते हैं। आपके पीछे सरकारी ख़ज़ाना उनका ज़िम्मेदार है। बीमारी, बुढ़ापा और प्राकृतिक आपदाएँ चाहे वे आसमानी हों या ज़मीनी, हर परिस्थिति में बैतुलमाल आपका स्थायी सहायक है, जिससे आप सहायता ले सकते हैं। पूंजीपति अपनी शर्तों पर काम करवाने के लिए आपको मजबूर नहीं कर सकता। बैतुलमाल की मौजूदगी में आपके लिए भूखा मरने, बग़ैर कपड़े के रहने और निर्धनता का कोई ख़तरा नहीं। फिर यह बैतुलमाल समाज के तमाम उन लोगों को ज़रूरत का सामान ख़रीदने के क़ाबिल बना देता जो धनोपार्जन में बिल्कुल असमर्थ हैं। इस प्रकार माल के उत्पादन और उसकी खपत में निरन्तर सन्तुलन बना रहता है। और इसकी आवश्यकता शेष नहीं रहती कि आप अपने दीवालियेपन को दुनिया भर के सिर पर चिपकाने के लिए दौड़ते फिरें और अन्ततः दूसरे सितारों तक पहुँचने की ज़रूरत पड़ जाए।

ज़कात के अतिरिक्त दूसरा उपाय जो एक जगह सिमटी हुई दौलत को फैलाने के लिए इस्लाम ने अपनाया है, वह विरासत (उत्तराधिकार) का क़ानून है। इस्लाम के सिवा अन्य क़ानूनों का झुकाव इस ओर है कि जो दौलत एक व्यक्ति ने समेटी है, वह उसके मरने के बाद भी सिमटी रहे। किन्तु इस्लाम इसके विपरीत यह तरीक़ा अपनाता है कि जिस दौलत को एक व्यक्ति समेट-समेटकर क़ैद करता रहा है, उसके मरते ही वह फैला दी जाए। इस्लामी क़ानून में बेटे-बेटियाँ, माँ-बाप, भाई-बहन और पत्नी सब एक व्यक्ति के वारिस हैं और एक नियम के अनुसार सभी में मृतक की छोड़ी गई सम्पत्ति का विभाजन ज़रूरी है। क़रीबी रिश्तेदार मौजूद न हों तो दूर के रिश्तेदार तलाश किए जाएँगे और उनमें यह दौलत फैलाई जाएगी। कोई

रिश्तेदार ही न हो, तब भी व्यक्ति को किसी को अपना मुँह बोला बेटा बनाने का हक़ नहीं है। इस स्थिति में पूरा समाज उसका वारिस है। उसकी समेटी हुई सारी दौलत बैतुलमाल में जमा कर दी जाएगी। इस तरह चाहे कोई व्यक्ति करोड़ों या अरबों की दौलत जमा कर ले, उसके मरने के बाद दो-तीन पीढ़ियों के अन्दर वह सबकी-सब छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटकर फैल जाएगी और दौलत का हर सिमटाव क्रमशः फैलाव में बदलकर रहेगा।

सोचने की बात

यह अर्थव्यवस्था, जिसकी मैंने अत्यन्त संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उसपर विचार कीजिए। क्या यह निजी स्वामित्व की उन सभी हानियों को दूर नहीं कर देता, जो शैतान की ग़लत शिक्षा के कारण पैदा होते हैं। फिर आख़िर इसकी क्या आवश्यकता है कि हम साम्यवादी दृष्टिकोण या फॉसीवाद और राष्ट्रीय समाजवाद के दृष्टिकोणों को अपनाकर आर्थिक व्यवस्था के वे कृत्रिम तरीक़े इस्तेमाल करें, जो एक ख़राबी को दूर नहीं करते, बल्कि उसकी जगह दूसरी ख़राबी पैदा कर देते हैं। यहाँ मैंने इस्लाम की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का उल्लेख नहीं किया है। धरती का प्रबन्ध और औद्योगिक विवादों के निपटारे तथा उद्योग-धन्धों के लिए पूंजी जुटाने की जो सूरतें इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार अपनाई जा सकती हैं और जिनके लिए इस्लामी क़ानून में पूरी गुंजाइश भी रखी गई है, उन्हें इस संक्षिप्त लेख में पेश करना मुश्किल है। फिर इस्लाम ने जिस तरह आयात-निर्यात के करों और देश के अन्दर व्यापारिक माल को लाने और ले जाने पर चुंगी की पाबन्दियों को हटाकर ज़रूरत के सामानों के स्वतंत्र विनियम का रास्ता खोला है, उसका उल्लेख भी मैं नहीं कर सका हूँ। इन सबसे बढ़कर मुझे यह बयान करने का मौक़ा भी नहीं मिला है कि प्रशासनिक व्यवस्था, सिविल सेवा और सेना के ख़र्चों को सम्भावित सीमा तक घटाकर और अदालत के स्टाम्प ड्यूटी को पूरी तरह हटाकर इस्लाम ने समाज पर से जिस भारी आर्थिक बोझ को हल्का किया है और करों को प्रशासन की सीमा से बढ़े हुए ख़र्चों में खपा देने के बजाए समाज की सुख-सुविधा और भलाई पर ख़र्च होने का जो अवसर प्रदान किया है, उनकी बदौलत इस्लाम की

अर्थव्यवस्था इनसानों के लिए कितनी बड़ी रहमत बन जाती है। अगर पक्षपात छोड़ दिया जाए और बाप-दादा से जो अज्ञानतापूर्ण तंगनज़री विरासत में मिली है या ग़ैर-इस्लामी हुकूमतों के दुनिया पर अपना प्रभुत्व जमाने से जो रोब दिमाग़ों पर छा गया है, उसे दूर करके स्वतन्त्र अन्वेषणात्मक दृष्टि से इस व्यवस्था का अध्ययन किया जाए तो मुझे आशा है कि एक भी न्यायप्रिय व्यक्ति ऐसा न मिलेगा जो इनसान के आर्थिक हित के लिए इस व्यवस्था को सबसे अधिक उपयोगी, सही और बुद्धिसंगत स्वीकार न करे। लेकिन अगर किसी व्यक्ति के दिमाग़ में यह ग़लतफ़हमी हो कि इस्लाम के समस्त अक़ीदों, नैतिकताओं और संस्कृति से सम्बन्धित बातों में से केवल उसकी आर्थिक प्रणाली को लेकर कामयाबी के साथ चलाया जा सकता है तो मैं उससे निवेदन करूँगा कि कृपया वह इस ग़लतफ़हमी को दिल से निकाल दे। इस आर्थिक व्यवस्था का गहरा सम्बन्ध इस्लाम के राजनीतिक, न्यायिक, क़ानूनी, सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवस्था के साथ है। फिर इन सब चीज़ों की बुनियाद इस्लाम की नैतिक व्यवस्था पर आधारित है और वह नैतिक व्यवस्था भी अपने आप पर क़ायम नहीं है, बल्कि वह पूर्ण रूप से इस बात पर निर्भर है कि आप एक सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर पर ईमान लाएँ और अपने-आपको उसके सामने उत्तरदायी समझें। मौत के बाद पारलौकिक जीवन को मानें और यह भी स्वीकार करें कि परलोक में ख़ुदा की अदालत में जीवन के तमाम कर्मों को जाँचा-परखा जाएगा और जाँच के अनुसार इनाम या सज़ा मिलेग, और यह भी मानें कि ईश्वर की ओर से हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) ने जो नैतिक नियम और अन्य क़ानून आप तक पहुँचाया है, जिसका एक भाग यह आर्थिक व्यवस्था भी है, वह पूर्णतः ईश्वरीय आदेश पर आधारित है। अगर इस धारणा, नैतिक व्यवस्था और इस सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली को आप ज्यों का त्यों न लेंगे तो केवल इस्लामी अर्थव्यवस्था एक दिन भी अपनी सही आत्मा के साथ नहीं चल सकेगी और न उससे आप कोई उल्लेखनीय लाभ उठा सकेंगे।

अध्याय-2

क़ुरआन की आर्थिक शिक्षाएँ

1. बुनियादी हक़ीक़तें

इनसान की आजीविका के बारे में सबसे पहली बुनियादी हक़ीक़त, जिसे क़ुरआन मजीद बार-बार ज़ोर देकर बयान करता है, यह है कि तमाम वे संसाधन और ज़रिए जिनपर इनसान की आजीविका का दारोमदार है, अल्लाह के पैदा किए हुए हैं। उसी ने इनको इस तरह बनाया और ऐसे प्राकृतिक नियमों पर क़ायम किया है कि वे इनसान के लिए फ़ायदेमन्द हो रहे हैं और उसी ने इनसान को इनसे फ़ायदा उठाने का मौक़ा दिया और इनके उपभोग का अधिकार प्रदान किया है—

"वही है जिसने तुम्हारे लिए ज़मीन को वशीभूत कर रखा है, चलो उस ज़मीन की छाती पर और खाओ अल्लाह की रोज़ी और उसी के यहाँ तुम्हें दोबारा ज़िन्दा होकर जाना है।"

(क़ुरआन, सूरा-67 मुल्क, आयत-15)

"और वही जिसने यह ज़मीन फैला रखी है और इसमें पहाड़ों के ख़ूँटे गाड़ रखे हैं और नदियाँ बहा दी हैं। उसी ने हर तरह के फलों के जोड़े पैदा किए हैं।" (क़ुरआन, सूरा-13 रअद, आयत-3)

"वही है जिसने तुम्हारे लिए सबकुछ पैदा किया जो ज़मीन में है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-29)

"अल्लाह ही है जिसने आसमानों और ज़मीन को पैदा किया, और आसमान से पानी बरसाया, फिर उसके द्वारा तुम्हारी आजीविका के लिए तरह-तरह के फल पैदा किए। जिसने नौका को सेवा में लगाया ताकि वह समुद्र में उसके आदेश से चले, और दरियाओं को तुम्हारे लिए ख़िदमतगार बनाया और सूरज और चाँद को तुम्हारे लिए काम में लगा दिया कि लगातार चले जा रहे हैं और रात और दिन को तुम्हारे काम पर लगाया और वह सबकुछ तुम्हें दिया जो तुमने

माँगा,[1] अगर तुम अल्लाह की नेमतों को गिनना चाहो तो नहीं गिन सकते।" (क़ुरआन, सूरा-14 इबराहीम, आयतें-32-34)

"हमने ज़मीन में तुम्हें अधिकार प्रदान किया और तुम्हारे लिए इसमें जीवन-सामग्री जुटाई।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-10)

"क्या तुमने कभी सोचा, ये खेतियाँ जो तुम बोते हो, उन्हें तुम उगाते हो या उनके उगानेवाले हम हैं?"

(क़ुरआन, सूरा-56 वाक़िआ, आयतें-63,64)

2. वैध-अवैध की सीमाएँ निर्धारित करना अल्लाह ही का अधिकार है

इसी आधार पर क़ुरआन मजीद यह उसूल क़ायम करता है कि इनसान उन साधनों के हासिल करने और इस्तेमाल करने के मामले में न तो आज़ाद है, न उसे अपना अधिकार है और न अपनी इच्छा से खुद हराम-हलाल और वैध-अवैध की सीमाएँ निर्धारित करने का हक़ रखता है, बल्कि यह अधिकार खुदा का है कि उसके लिए सीमाएँ निर्धारित करे। वह अरब की एक प्राचीन क़ौम, 'मदयन' की इस बात पर भर्त्सना करता है कि वे लोग कमाई और ख़र्च के मामले में असीमित हद तक अधिकारी होने का दावा करते थे–

"उन्होंने कहा, ऐ शुऐब! क्या तेरी नमाज़ तुझे यही सिखाती (हुक्म देती) है कि हम उन सभी पूज्यों को छोड़ दें जिनकी पूजा हमारे बाप-दादा करते थे? या यह कि हम अपने माल में अपनी इच्छा के अनुसार ख़र्च जो कुछ करना चाहें वह न कर सकें?"

(क़ुरआन, सूरा-11 हूद, आयत-87)

वह इस बात को झूठ क़रार देता है कि आदमी खुद किसी चीज़ को हराम या हलाल (वैध) कहे–

1. यानी जिसकी तुम्हें आवश्यकता थी और जिसको तुमने अपनी ज़बान से माँगा या न माँगा हो। (बैज़ावी, अनवारुत्तंज़ील, जिल्द-3, पृष्ठ 161, मुस्तफ़ा अलबानी मिस्र, 1330 हिजरी, 1912 ई॰)

"और अपनी ज़बान से ये झूठे आदेश आरोपित न करो कि यह चीज़ हलाल है और वह हराम।"[1]

(क़ुरआन, सूरा-16 नह्ल, आयत-116)

वह इस अधिकार को अल्लाह और (उसके नायब होने की हैसियत से) उसके रसूल (सल्ल॰) के लिए निश्चित करता है—

"वह (रसूल सल्ल॰) उनको भलाई का हुक्म देता है और बुराई से रोकता है; उनके लिए पाक चीज़ें हलाल और नापाक चीज़ें उनपर हराम करता है और उनपर से वह बोझ उतारता है जो उनपर लदे हुए थे और वे बन्धन खोलता है जिनमें वे जकड़े हुए थे।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-157)

3. अल्लाह की निर्धारित सीमाओं के अन्दर निजी मिल्कियत की मान्यता

अल्लाह के महानतम स्वामित्व के अन्तर्गत और उसकी निर्धारित सीमाओं के अन्दर क़ुरआन निजी मिल्कियत के मालिक होने की पुष्टि करता है—

"एक-दूसरे के माल ग़लत ढंग से न खाओ, सिवाय इसके कि तुम्हारे बीच लेन-देन हो आपस की रज़ामन्दी से।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-29)

"अल्लाह ने व्यापार को हलाल किया है और ब्याज को हराम।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-275)

"और अगर तुम ब्याज लेने से तौबा कर लो तो तुम्हें अपना मूल धन वापस लेने का अधिकार है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-279)

---

1. "इस आयत में इस बात से ताकीद के साथ मना किया गया है कि लोग सिर्फ़ अपने विचारों और इच्छाओं के आधार पर हलाल या हराम का फ़ैसला करें।"

(बैज़ावी, जिल्द-3, पृष्ठ 193)

"इस आयत का सारांश यह है, जैसा कि असकरी ने बयान किया है कि जिस चीज़ के हलाल या हराम होने का हुक्म तुमको अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल॰) से न पहुँचे उसे हलाल या हराम न कहो, नहीं तो तुम अल्लाह पर झूठ बाँधनेवाले होगे, क्योंकि हलाल और हराम ठहराने का अधिकार अल्लाह के सिवा कोई चीज़ नहीं रखती है।"

(आलूसी, रूहुल-मआनी, जिल्द-14, पृष्ठ 226, इदा-रतुत्तबा-अतुल-मुनीर, मिस्र, 1345 हि॰)

"जब तुम आपस में किसी निर्धारित समय के लिए क़र्ज़ का लेन-देन करो तो उसे लिख लिया करो।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-282)

"और अगर तुम किसी सफ़र में हो और (दस्तावेज़ लिखने के लिए) कोई लिखनेवाला न मिले तो गिरवी (बन्धक) रखकर मामला कर लिया करो।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-283)

"मर्दों के लिए उस माल में हिस्सा है जो माँ-बाप और क़रीबी रिश्तेदारों ने छोड़ा है और औरतों के लिए भी उस माल में हिस्सा है जो माँ-बाप और क़रीबी नातेदारों ने छोड़ा हो।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-7)

"अपने घरों के सिवा दूसरे घरों में प्रवेश न किया करो जब तक अनुमति न ले लो।" (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-27)

"क्या ये लोग देखते नहीं हैं कि हमने इनके लिए अपने हाथों की बनाई हुई चीज़ों में से जानवर पैदा किए और ये उनके मालिक हैं।" (क़ुरआन, सूरा-36 यासीन, आयत-71)

"और चोरी करनेवाले मर्द और चोरी करनेवाली औरत दोनों के हाथ काट दो।" (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-38)

"और फ़सल काटने के दिन (ज़मीन की पैदावार में से) ख़ुदा का हक़ अदा करो।" (क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-141)

"ऐ नबी! उनके मालों में से ज़कात वुसूल करो।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-103)

"और यतीमों का माल उनके हवाले करो....और उनके माल अपने माल के साथ मिलाकर न खाओ।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-2)

"और इन (हराम औरतों) के सिवा (बाक़ी औरतों के मामले में) यह बात तुम्हारे लिए हलाल कर दी गई कि तुम इन्हें अपने मालों के

बदले हासिल करो निकाह करनेवाले बनकर, न कि अवैध सम्बन्ध रखनेवाले बनकर।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-24)

"और औरतों को उनके महर ख़ुशदिली से अदा करो।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-4)

"और अगर तुमने किसी औरत को (निकाह के वक़्त) ढेर सारा माल भी दिया हो तो (तलाक़ देते वक़्त) उसमें से कुछ भी वापस न लो।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-20)

"जो लोग अपने माल अल्लाह के रास्ते में ख़र्च करते हैं, उनके ख़र्च की मिसाल ऐसी है जैसे एक दाना बोया जाए तो उससे सात बालें निकलें।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-261)

"और यह कि तुम अल्लाह के रास्ते में अपने मालों और अपनी जानों के साथ जिहाद करो।" (क़ुरआन, सूरा-61 सफ़्फ़, आयत-11)

"और उनके मालों में हक़ है माँगनेवालों के लिए और उनके लिए जो पाने से रह गए हों।" (क़ुरआन, सूरा-51 ज़ारियात, आयत-19)

उपर्युक्त आदेशों और हिदायतों में से किसी की भी कल्पना निजी मिल्कियत के बग़ैर नहीं की जा सकती। क़ुरआन मजीद निश्चित रूप से एक ऐसी आर्थिक नीति का नक़्शा पेश करता है जो अपने सभी पहलुओं में लोगों के अधिकारों के स्वामित्व पर आधारित है, इसमें कहीं इस कल्पना का लेशमात्र तक नहीं मिलता कि उपभोग की चीज़ों—और पैदावार के संसाधनों—में अन्तर करके केवल उपभोग की वस्तुओं तक निजी मिल्कियत को सीमित रखा जाए और पैदावार के संसाधनों को सामूहिक सम्पत्ति बना दिया जाए। इसी प्रकार इसमें मेहनत से कमाई हुई दौलत—और बिना मेहनत कमाए हुए धन—के बीच भी कोई अन्तर नज़र नहीं आता। उदाहरणस्वरूप यह सर्वविदित है कि जो व्यक्ति माँ-बाप, औलाद, बीवी, शौहर (पति) या भाई-बहन से कोई मीरास पाता है वह उसकी मेहनत से कमाई हुई दौलत नहीं है और जिसे ज़कात दी जाती है उसके लिए भी वह उसके मेहनत से कमाया हुआ धन नहीं है। इसके अतिरिक्त आर्थिक नीति के इस नक़्शे में यह धारणा भी कहीं नहीं पाई जाती कि यह सिर्फ़ एक अस्थायी स्थिति की

हैसियत रखती है और मूल अभीष्ट कोई ऐसा लक्ष्य है जहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त करके सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था स्थापित कर दी जाए। यदि इस चीज़ को क़ुरआन में वास्तविक उद्देश्य का स्थान प्राप्त होता है तो वह साफ़-साफ़ अपने इस उद्देश्य को बयान करता और इस व्यवस्था के बारे में आदेश और हिदायतें देता। केवल यह बात कि क़ुरआन मजीद ने एक स्थान पर "ज़मीन ख़ुदा की है" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-128) कहा है, यह नतीजा निकालने के लिए पर्याप्त नहीं है कि इससे ज़मीन के व्यक्तिगत स्वामित्व को झुठलाना और क़ौमी स्वामित्व को साबित करना अभीष्ट है। क़ुरआन मजीद तो यह भी कहता है कि "आसमानों और ज़मीन में जो कुछ भी है अल्लाह का है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-284) इससे न यह नतीजा निकाला जा सकता है कि ज़मीन और आसमान की कोई चीज़ भी लोगों की सम्पत्ति न हो और न यही नतीजा निकाला जा सकता है कि ये चीज़ें राष्ट्र की सम्पत्ति हों। ख़ुदा का स्वामित्व अगर इन सभी स्वामित्व को नकारता है तो फिर लोगों और राष्ट्रों सभी के स्वामित्व को नकार देता है। क़ुरआन की इस आयत "ख़ुदा ने ज़मीन में उसके ख़ूराक की सामग्री चार दिन के अन्दर एक अन्दाज़े से रख दी सब माँगनेवालों के लिए बराबर-बराबर।"[1] (क़ुरआन, सूरा-41 हा-मीम सजदा, आयत-10) से भी यह दलील लेना दुरुस्त नहीं है कि "ज़मीन के खाद्य संसाधनों को क़ुरआन मजीद सब इनसानों में बराबरी के साथ बाँटना चाहता है और यह बराबरी सामूहिक स्वामित्व के बग़ैर क़ायम नहीं हो सकती, इसलिए क़ुरआन का उद्देश्य यही व्यवस्था स्थापित करना है।" फिर भी अगर इस आयत का अनुवाद वह मान भी लिया जाए जो ऊपर दिया गया

1. यह अनुवाद ख़ुद में सही नहीं है। अस्ल अरबी शब्द हैं "फ़ी अ-र-ब-अति अय्यामिन सवाअन लिस्साइलीन" इसमें शब्द सवाअन का सम्बन्ध ज़मख़्शरी, बैज़ावी, राज़ी, आलूसी और क़ुरआन के अन्य टीकाकारों ने शब्द अय्यामिन से माना है और अर्थ यह बताया है कि "पूरे चार दिनों में अल्लाह ने यह काम किया।" अरबी शब्द "लिस्साइलीन" के साथ सवाअन का सम्बन्ध जिन टीकाकारों ने माना है वे इसका अर्थ यह लेते हैं "सब माँगनेवालों के लिए उपलब्ध किए हुए।" या "सब माँगनेवालों की माँग के अनुसार।" और अधिक व्याख्या के लिए देखें तफ़हीमुल-क़ुरआन, सूरा-41, हा-मीम सजदा, टिप्पणी-12

है, तब भी माँगनेवालों से मुराद केवल इनसान ले लेना ठीक न होगा। माँगनेवाले तो इनसानों के अलावा तमाम जीवधारी भी हैं, जिनकी खाद्य सामग्री ख़ुदा ने इसी ज़मीन में रखी है। अगर इस आयत के अनुसार सब माँगनेवालों का हिस्सा बराबर है तो यह बराबरी का हक़ केवल इनसानों के लिए ख़ास होने की कोई दलील नहीं है। इसी प्रकार क़ुरआन मजीद की उन आयतों से भी जिनमें समाज के कमज़ोर लोगों की आजीविका पहुँचाने पर ज़ोर दिया गया है, इससे यह दलील नहीं दी जा सकती कि वह इस उद्देश्य के लिए सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था स्थापित करना चाहता है। क़ुरआन मजीद जहाँ कहीं भी इस ज़रूरत का ज़िक्र करता है वहाँ लाज़िमी तौर पर उसे पूरा करने की एक ही सूरत बयान करता है और वह यह है कि समाज के सम्पन्न लोग अपने निर्धन नातेदारों और अनाथों, मुहताजों तथा दूसरे वंचित या तंगहाल लोगों पर सिर्फ़ ख़ुदा को राज़ी करने के लिए ख़ुद भी अपने माल खुले दिल के साथ ख़र्च करें और हुकूमत भी उनकी सम्पत्ति में से एक निश्चित भाग वसूल करके इस काम में ख़र्च करे। इस उद्देश्य के लिए इस व्यावहारिक रूप के सिवा किसी दूसरे रूप का कोई विचार क़ुरआन मजीद में बिलकुल नहीं पाया जाता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी विशेष वस्तु को निजी व्यवस्था के बजाय सामूहिक व्यवस्था में लेने की अगर ज़रूरत महसूस हो तो ऐसा करने में क़ुरआन मजीद का कोई आदेश रुकावट भी नहीं है। लेकिन निजी मिल्कियत का पूर्ण इनकार और सामूहिक स्वामित्व के दृष्टिकोण को एक दर्शन और व्यवस्था के तौर पर अपनाना मानवीय अर्थव्यवस्था के बारे में क़ुरआन मजीद की योजना के साथ अनुकूलता नहीं रखता और क़ुरआन मजीद मानव-समाज के लिए जो राजनीतिक व्यवस्था प्रस्तावित करता है उसके अनुसार यह निर्णय करना भी किसी पार्टी का काम नहीं कि किसी वस्तु को निजी स्वामित्व के बजाय सामूहिक स्वामित्व में लेने की आवश्यकता है, बल्कि इसका निर्णय समाज के स्वतंत्र मतों से चयनित सदस्यों की एक सलाहकार समिति ही कर सकती है।[1]

1. क़ुरआन की निर्धारित की हुई राजनीतिक व्यवस्था को विस्तार से जानने के लिए देखें मेरी किताब 'ख़िलाफ़तो-मुलूकियत' का पहला अध्याय।

4. आर्थिक समानता का अप्राकृतिक दृष्टिकोण

क़ुरआन मजीद इस वास्तविकता को अल्लाह की बनाई हुई प्रकृति के एक पहलू की हैसियत से प्रस्तुत करता है कि दूसरी सभी वस्तुओं की तरह इनसानों के बीच आजीविका और जीवन-संसाधनों में भी समानता नहीं है। विभिन्न सांस्कृतिक व्यवस्थाओं की बनावटी असमानताओं को छोड़कर जहाँ तक इस प्राकृतिक असमानता का सम्बन्ध है उसे क़ुरआन मजीद अल्लाह की हिकमत का तक़ाज़ा और उसके बँटवारे व भाग्य का नतीजा क़रार देता है और उस पूरी योजना में कहीं इस ख़याल का चिह्न तक नहीं मिलता कि इस असामानता को मिटाकर कोई ऐसी व्यवस्था स्थापित करना अभीष्ट है जिसमें सब इनसानों को आजीविका के साधन बराबर मिलें।

> "और वह अल्लाह ही है जिसने तुमको ज़मीन का ख़लीफ़ा बनाया और तुममें से कुछ को कुछ के ऊपर ऊँचे-ऊँचे दर्जे दिए ताकि जो कुछ भी तुम लोगों को उसने दिया है उसमें तुम्हारी आज़माइश करे।" (क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-165)
>
> "देखो, किस तरह हमने कुछ लोगों को कुछ पर फ़ज़ीलत (बड़ाई) दी है और आख़िरत तो दर्जों के फ़र्क़ और फ़ज़ीलत में और भी ज़्यादा है।" (क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयत-21)
>
> "क्या तेरे रब की दयालुता (यानी नुबूवत) ये लोग बाँटते हैं? हमने दुनिया की ज़िन्दगी में इनके बीच इनके जीवन-यापन के साधन वितरित किए हैं और इनमें से कुछ लोगों को कुछ दूसरे लोगों पर हमने कई दर्जे उच्चता दी है ताकि इनमें कुछ लोग कुछ दूसरे लोगों से सेवा-कार्य लें और तेरे रब की रहमत (अर्थात पैग़म्बरी) तो उस मालो-दौलत से भी बढ़कर है जो ये लोग जमा करते हैं।"[1]
>
> (क़ुरआन, सूरा-43 ज़ुख़रुफ़, आयत-32)

---

1. यह बात इस संदर्भ में कही गई है कि मुहम्मद (सल्ल.) के विरोधी कहते थे कि "मक्का और ताइफ़ के किसी बड़े सरदार को पैग़म्बर क्यों न बनाया गया, ख़ुदा को पैग़म्बर ही भेजना था तो इसके लिए मुहम्मद (सल्ल.) के चुनाव की क्या वजह हो सकती थी।" (क़ुरआन, सूरा-43 ज़ुख़रुफ़, आयत-31)

"हक़ीक़त में तेरा रब जिसके लिए चाहता है रिज़्क़ कुशादा करता है और जिसे चाहता है नपा-तुला देता है। वह अपने बन्दों की ख़बर रखता है और उनपर नज़र रखता है।"

(क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयत-30)

"आसमान और ज़मीन की कुंजियाँ उसी के क़ब्ज़े में हैं, जिसके लिए चाहता है खुली रोज़ी देता है और जिसे चाहता है नपा-तुला देता है वह हर चीज़ का ज्ञान रखता है।"

(क़ुरआन, सूरा-42 शूरा, आयत-12)

"ऐ नबी! उनसे कहो, मेरा रब अपने बन्दों में से जिसके लिए चाहता है रिज़्क़ कुशादा करता है और जिसके लिए चाहता है नपा-तुला देता है।" (क़ुरआन, सूरा-34 सबा, आयत-39)

क़ुरआन मजीद हिदायत (पथ-प्रदर्शन) करता है कि लोग इस प्राकृतिक असमानता को ठंडे दिल से स्वीकार करें और दूसरों को जो फ़ज़ीलत (प्रतिष्ठा) ख़ुदा ने प्रदान की है उसपर ईर्ष्या न करना चाहिए।

"अल्लाह ने तुममें से जो कुछ किसी दूसरे के मुक़ाबले में ज़्यादा दिया है उसकी तमन्ना न करो, मर्दों के लिए हिस्सा है उनकी कमाई में से और औरतों के लिए हिस्सा है उनकी कमाई में से। हाँ, अल्लाह से उसके अनुग्रह की दुआ करते रहो, यक़ीनन अल्लाह हर चीज़ का ज्ञान रखता है।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-32)

दो आयतें जिनसे आजकल कुछ लोग यह नतीजा निकालने की कोशिश कर रहे हैं कि क़ुरआन मजीद लोगों के बीच आजीविका में समानता चाहता है, नीचे लिखी हैं–

"अल्लाह ने तुममें से कुछ को कुछ के मुक़ाबले में रोज़ी में आगे रखा है। फिर जिन लोगों को इस प्रकार आगे रखा है वे ऐसे नहीं हैं कि अपनी रोज़ी अपने ग़ुलामों की तरफ़ फेर दिया करते हों ताकि दोनों इस रोज़ी में बराबर के हिस्सेदार बन जाएँ। तो क्या अल्लाह ही के उपकार को स्वीकार करने से इन लोगों को इनकार है?"

(क़ुरआन, सूरा-16 नह्ल, आयत-71)

"अल्लाह तुम्हें ख़ुद तुम्हारे अपने ही व्यक्तित्व से एक मिसाल देता है। क्या तुम्हारे उन गुलामों में से जो तुम्हारे स्वामित्व में हैं, कुछ गुलाम उस रिज़्क़ में से जो हमने तुम्हें दिया है तुम्हारे ऐसे साझीदार हैं कि तुम और वे उसमें बराबर हैं और तुम उनसे उस तरह डरते हो जिस तरह आपस में अपने समकक्ष व्यक्तियों से डरते हो—इस तरह हम निशानियाँ खोलकर पेश करते हैं बुद्धि रखनेवालों के लिए।" (क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-28)

क़ुरआन मजीद की इन दोनों आयतों के शब्द साफ़ बता रहे हैं, और जिस पृष्ठभूमि में ये आई हैं उससे स्पष्ट होता है कि यहाँ वास्तव में आर्थिक असमानता को निन्दनीय क़रार देने और उसको मिटाकर समानता स्थापित करने की कोई नसीहत नहीं की गई है, बल्कि इस हक़ीक़त को जो इनसानों में पाई जाती है, शिर्क (बहुदेववाद) के विपरीत एक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यानी दलील यह है कि जब तुम अल्लाह के दिए हुए रिज़्क़ में अपने गुलामों को अपने साथ बराबर का साझीदार बनाने के लिए तैयार नहीं हो तो अल्लाह के बारे में तुमने यह कैसी धारणा बना रखी है कि उसकी मख़लूक़ (सृष्टि) में से कोई उसकी ख़ुदाई (ईश्वरत्व) में उसका साझीदार है।

5. संन्यास के बजाय सन्तुलन और सीमाओं की पाबन्दी

क़ुरआन मजीद इस हक़ीक़त को भी बार-बार ज़ोर देकर बयान करता है कि ख़ुदा ने दुनिया में अपनी नेमतें इसी लिए पैदा की हैं कि उसके बन्दे उनसे लाभान्वित हों। ख़ुदा का मंशा यह कदापि नहीं है और न ही हो सकती है कि इनसान उन नेमतों से अपने-आपको वंचित करके संन्यास अपना ले। अलबत्ता जो कुछ ख़ुदा चाहता है वह यह है कि पाक और नापाक में अन्तर किया जाए, वैध और अवैध तरीक़ों में फ़र्क़ किया जाए, लाभ-प्राप्ति और नफ़ा उठाना सिर्फ़ हलाल-पाक चीज़ों तक सीमित रहे और इसमें भी सन्तुलन की सीमा का उल्लंघन न हो—

"वही तो है जिसने तुम्हारे लिए वह सबकुछ पैदा किया जो ज़मीन में है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-29)

"(ऐ नबी!) इनसे पूछो, किसने हराम कर दिया अल्लाह की उस

ज़ीनत (शृंगार) को जो उसने अपने बन्दों के लिए निकाला था और रिज़्क़ की बेहतरीन चीज़ों को।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-32)

"और खाओ उन चीज़ों में से जो अल्लाह ने तुमको प्रदान की हैं हलाल और पाकीज़ा और बचे रहो उस ख़ुदा की नाराज़ी से जिस पर तुम ईमान लाए हो।" (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-88)

"लोगो, खाओ जो कुछ ज़मीन में है हलाल और पाक, और शैतान के तरीक़े की पैरवी न करो कि वह तुम्हारा खुला दुश्मन है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-168)

"खाओ, पिओ और हद से आगे न बढ़ो, अल्लाह सीमा उल्लंघन करनेवालों को पसन्द नहीं करता है।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-31)

6. धन कमाने में हलाल-हराम का ध्यान रखना

इस उद्‌देश्य के लिए क़ुरआन पाबन्दी लगाता है कि दौलत सिर्फ़ हलाल तरीक़ों से प्राप्त की जाए और हराम तरीक़ों से बचा जाए।

"ऐ लोगो, जो ईमान लाए हो! आपस में एक-दूसरे के माल ग़लत तरीक़ों से न खाओ, मगर यह कि व्यापार हो तुम्हारी आपस की रज़ामन्दी से।[1] और अपने-आपको (या एक-दूसरे को) हलाक न करो, अल्लाह तुम्हारे ऊपर दयालु है।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-29)

7. धन कमाने के हराम तरीक़े

ग़लत तरीक़ों से धन कमाने की पूरी तफ़सील तो हदीसों में अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने और इस्लामी क़ानून की किताबों में फ़क़ीहों (विधि

1. व्यापार से तात्पर्य है चीज़ों और सेवाओं का विनिमय (अल-जस्सास, अहकामुल-क़ुरआन, जिल्द-2, पृष्ठ 210; इब्नुल-अरबी, अहकामुल-क़ुरआन जिल्द-1, पृष्ठ 170,) आपस की रज़ामन्दी की शर्त ख़ुद ही यह ज़ाहिर करती है कि इस आपस के अदल-बदल में किसी प्रकार का दबाव न हो और न कोई धोखा या ऐसी चाल हो जो अगर दूसरे फ़रीक़ के इल्म में आ जाए तो वह उसपर राज़ी न हो।

विशेषज्ञों) ने बयान की हैं। लेकिन उनमें से कुछ का स्पष्टीकरण क़ुरआन मजीद में किया गया है और वे ये हैं–

(अ) "और आपस में एक-दूसरे के माल ग़लत तरीक़ों से न खाओ और न उनको हाकिमों के सामने पेश करो ताकि खा जाओ जानते-बूझते लोगों के माल गुनाह के साथ।"[1]

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-188)

(ब) "फिर अगर तुममें से एक आदमी दूसरे पर भरोसा करके कोई अमानत उसके हवाले करे तो जिसपर भरोसा किया गया है उसे अमानत अदा करनी चाहिए और अल्लाह, अपने रब के प्रकोप से डरना चाहिए।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-283)

(स) "और जो कोई ग़ुलूल (जनता के माल में ख़ियानत) करे वह अपने ख़ियानत किए हुए माल के साथ क़ियामत के दिन हाज़िर होगा और हर एक को उसकी कमाई का पूरा-पूरा बदला मिलेगा।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-161)

(द) "चोरी करनेवाले मर्द और चोरी करनेवाली औरत दोनों के हाथ काट दो।" (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-38)

(ह) "जो लोग अल्लाह और उसके रसूल से लड़ते हैं और ज़मीन में फ़साद फैलाते फिरते हैं[2] उसकी सज़ा तो यह है कि क़त्ल किए जाएँ या फाँसी पर लटका दिए जाएँ...।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-33)

(य) "जो लोग यतीमों के माल ज़ुल्म के साथ खाते हैं वे अपने पेटों में आग भरते हैं और वे बहुत जल्द जहन्नम की आग में जलेंगे।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-10)

---

1. हाकिमों के सामने पेश करने से अभिप्राय दूसरे के माल के स्वामित्व का झूठा दावा लेकर हाकिमों के पास जाना भी है और उनको रिश्वत देकर दूसरे की सम्पत्ति पर ग़ासिबाना क़ब्ज़ा करना भी। (आलूसी रूहुल-मआनी जिल्द-2, पृष्ठ 60)
2. इससे तात्पर्य वे लोग हैं जो डाके और रहज़नी के मुजरिम होते हैं।
(अल-जस्सास जिल्द-2, पृष्ठ 494)

(र) "तबाही है उन कम तौलनेवालों के लिए जो दूसरों से लेते हैं तो पूरा पैमाना भर के लेते हैं और जब दूसरों को नापकर या तौलकर देते हैं, तो कम देते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-83 मुतफ़्फ़िफ़ीन, आयतें-1-3)

(ल) "जो लोग चाहते हैं कि ईमान लानेवालों में बेहयाई फैले उनके लिए दुनिया और आख़िरत में दर्दनाक सज़ा है।"

(क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-19)

"और लोगों में कोई ऐसा भी है जो ख़रीदता है दिल-फ़रेब बात ताकि अल्लाह के रास्ते में भटका दे...ऐसे लोगों के लिए अपमानजनक अज़ाब है।"[1] (क़ुरआन, सूरा-31 लुक़मान, आयत-6)

(व) "अपनी बाँदियों को वेश्यावृत्ति पर मजबूर न करो जबकि वे बचना चाहती हों सिर्फ़ इसलिए कि तुम सांसारिक जीवन के लाभ प्राप्त करना चाहते हो।"[2] (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-33)

"और व्यभिचार के पास भी न फटको, यह बेहयाई और बुरा चलन है।" (क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयत-32)

"व्यभिचारी मर्द और व्यभिचारिणी औरत दोनों में से हर एक को सौ कोड़े मारो।"[3] (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-2)

---

1. इस आयत में दिल-फ़रेब बात से मुराद गाना-बजाना और हर वह खेल-तमाशा है जो खुदा के रास्ते से भटका देनेवाला हो। (इब्ने-जरीर, जामिउल-बयान फ़ी तफ़्सीरिल-क़ुरआन, जिल्द-21, पृष्ठ 39-41)
2. इस आयत का अस्ल मक़सद वेश्यावृत्ति के पेशे को रोकना है। बाँदियों का उल्लेख इसलिए किया गया है कि पुराने ज़माने में अरबवालों के यहाँ वेश्यावृत्ति का सारा कारोबार बाँदियों के द्वारा चलता था। लोग अपनी जवान और ख़ूबसूरत बाँदियों को कोठे में बिठा देते थे और उनकी कमाई खाते थे। (इब्ने-कसीर तफ़सीरुल-क़ुरआनिल-अज़ीम, जिल्द-3 पृष्ठ 89, 288, इब्ने-अब्दुल-बर्र, अल-इस्तियाब, जिल्द-2, पृष्ठ 762)
3. व्यभिचार को अपराध घोषित कर देने के साथ ही इस्लाम में व्यभिचार के ज़रिए होनेवाली आय को भी हराम कर दिया गया और नबी (सल्ल॰) ने इसे बदतरीन कमाई क़रार दिया। (बुख़ारी, किताब 34; अध्याय 113; किताब 37, अध्याय 20; किताब 68, अध्याय 50; किताब 76, अध्याय 46; किताब 77, अध्याय 96; मुस्लिम, किताब 22; हदीस नं॰ 39-41; अबू-दाऊद; किताब 22, अध्याय 39-41; तिरमिज़ी किताब 9, अध्याय 37; किताब 12, अध्याय 46; किताब 26, अध्याय 23; नसई, किताब 42, अध्याय 5; किताब 44, अध्याय 90; इब्ने-माजा, किताब 12, अध्याय 9।

(ष) "ऐ लोगो, जो ईमान लाए हो! शराब, जुआ और बुत (मूर्ति) और फ़ाल के तीर (या पाँसे) तो गन्दे शैतानी काम हैं। इनसे परहेज़ करो।"[1] (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

(ह) "अल्लाह ने व्यापार को हलाल और ब्याज को हराम किया।"[2]
(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-275)

"ऐ लोगो, जो ईमान लाए हो! अल्लाह से डरो जो ब्याज लेने के लिए रह गया है उसे छोड़ दो अगर तुम ईमानवाले हो। लेकिन अगर तुम ऐसा नहीं करते तो अल्लाह और रसूल (सन्देशवाहक) की तरफ़ से जंग का एलान स्वीकार करो और अगर तौबा कर लो तो तुम्हें अपने मूलधन लेने का अधिकार है। न तुम ज़ुल्म करो न तुमपर ज़ुल्म किया जाएगा और अगर तुम्हारा क़र्ज़दार तंगी में हो तो उसकी ख़ुशहाली तक उसे मुहलत दो और अगर माफ़ कर दो तो यह तुम्हारे लिए बेहतर है अगर तुम जानो।"[3]
(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-278-280)

---

1. तमाम वे चीज़ें जो क़ुरआन मजीद में हराम की गई हैं उनका उद्योग और व्यापार करना भी रोक दिया गया यानी हराम कर दिया गया है। क्योंकि किसी चीज़ का हराम कर देना इसका तक़ाज़ा करता है कि उसके फ़ायदा पहुँचानेवाले हर तरीक़ों को भी हराम कर दिया जाए। (अल-जस्सास, जिल्द-2, पृष्ठ 212)
2. इससे मालूम हुआ कि व्यापार की सूरत में मूलधन पर जो लाभ किसी व्यक्ति को प्राप्त हो या साझा व्यापार की सूरत में हिस्से के मुताबिक़ जो लाभ साझीदारों को वितरित हो, वह हलाल है। लेकिन क़र्ज़ के मामले में मूलधन से अधिक अगर कोई चीज़ क़र्ज़ देनेवाला क़र्ज़दार से वसूल करे तो वह हराम है। इसे अल्लाह व्यापारिक लाभ की तरह वैध-लाभ क़रार नहीं देता।
3. आयत के शब्दों से ख़ुद यह बात स्पष्ट होती है कि यह हुक्म क़र्ज़ के मामले से सम्बन्ध रखता है और इस प्रकार के किसी मामले में मूलधन से अधिक अगर कोई चीज़ क़र्ज़ देनेवाला अपने क़र्ज़दार से लेने की शर्त करे तो यह रिबा (ब्याज) है। इसमें न दर (शरह) कमी-बेशी से फ़र्क़ पड़ता है और न यह सवाल ध्यान देने के लायक़ है कि क़र्ज़ लेनेवाला किस उद्देश्य के लिए ले रहा है। आजकल जो लोग ब्याज के हराम होने को न सिर्फ़ उन क़र्ज़ों तक सीमित कर देने की कोशिश करते हैं जो कोई आदमी अपनी ख़ुदकी आवश्यकता के लिए ले और कारोबारी क़र्ज़ों के ब्याज या बैंक के ब्याज को हलाल क़रार देते हैं, उनकी बात बिलकुल बेदलील है। इसकी दलील न तो क़ुरआन मजीद में कहीं मौजूद है, न हदीस में, न फ़िक़्ह में।

इस प्रकार क़ुरआन मजीद ने धन प्राप्त करने के जिन तरीक़ों को अवैध ठहराया है वे संक्षिप्त रूप से ये हैं—

1. दूसरे का धन (माल) उसकी मर्ज़ी के बिना और बिना बदले लेना, या बदले में, और मर्ज़ी से या बिना बदले में और मर्ज़ी से इस प्रकार लेना कि रज़ामन्दी किसी दबाव या धोखे का नतीजा हो, 2. रिश्वत, 3. ग़सब (यानी हड़प कर लेना), 4. ख़ियानत चाहे लोगों के माल में हों या जनता के माल में, 5. चोरी और डाका, 6. अनाथ के माल में अनुचित ख़र्च, 7. नाप-तौल में कमी-बेशी, 8. अश्लीलता फ़ैलानेवाले साधनों का कारोबार, 9. गाने-बजाने का पेशा, 10. वेश्यावृत्ति और व्यभिचार की आमदनी, 11. शराब बनाना और उसका व्यापार और लाना व ले जाना, 12. जुआ और वे सभी तरीक़े जिनसे कुछ लोगों का माल कुछ दूसरे लोगों की तरफ़ स्थानान्तरित होना सिर्फ़ संयोग और भाग्य पर आधारित हो, 13. मूर्तियाँ बनाना, मूर्तियों का कारोबार और मूर्तिगृहों की सेवाएँ, 14. क़िस्मत बनाने और फ़ालगिरी आदि का कारोबार, 15. ब्याज, चाहे उसकी दर कम हो या अधिक और चाहे व्यक्तिगत ज़रूरतों के क़र्ज़ों पर हो या व्यापारिक और कृषि-कार्य की ज़रूरतों के क़र्ज़ों पर।

8. कंजूसी और माल जमा करके रोके रखने की मनाही

धन-दौलत प्राप्त करने के ग़लत तरीक़ों को हराम करने के साथ क़ुरआन मजीद वैध तरीक़ों से कमाई हुई दौलत को भी जमा करके रोके रखने की सख़्त निन्दा करता है और हमें बताता है कि कंजूसी एक बहुत बड़ी बुराई है—

> "बड़ी ख़राबी है हर उस व्यक्ति के लिए जो ऐब निकालनेवाला और बुरी बात करनेवाला हो, जिसने माल जमा किया और गिन-गिनकर रखा। वह समझता है कि उसका माल उसके पास हमेशा रहेगा। कदापि नहीं, वह व्यक्ति फेंका जाएगा तोड़ डालनेवाली आग में।" (क़ुरआन, सूरा-104 हु-म-ज़ह, आयतें-1-4)

> "और जो लोग सोना और चाँदी जमा करके रखते हैं और उसे अल्लाह के मार्ग में ख़र्च नहीं करते, उन्हें दर्दनाक सज़ा की ख़बर दे दो।" (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-34)

"जो दिल की तंगी (कंजूसी) से सुरक्षित रहे, ऐसे ही लोग कामयाबी पानेवाले हैं।" (क़ुरआन, सूरा-64 तग़ाबुन, आयत-16)

"और जो लोग अल्लाह के दिए हुए फ़ज़्ल के मामले में कंजूसी से काम लेते हैं वे इस ग़लतफ़हमी में न रहें कि यह उनके लिए अच्छा है, बल्कि यह उनके लिए बहुत बुरा है। जिस माल में उन्होंने कंजूसी की है उसी का तौक़ क़ियामत के दिन उनके गले में डाला जाएगा।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-180)

9. धन की पूजा और धन-लोलुपता की निन्दा

क़ुरआन मजीद यह भी बताता है कि धन की पूजा और दुनिया की धन-दौलत का लोभ और हद से ज़्यादा धन की चाह और ख़ुशहाली पर गर्व और घमण्ड इनसान की गुमराही और अन्ततः उसकी तबाही-बरबादी के कारणों में से एक बड़ा कारण है–

"तुम लोगों को अधिक-से-अधिक धन-दौलत समेटने की चिन्ता ने डुबो रखा है, क़ब्र में जाने तक तुम इसी चिन्ता में डूबे हो, यह कदापि तुम्हारे लिए लाभदायक नहीं है, बहुत जल्द तुमको इसका अंजाम मालूम हो जाएगा।" (क़ुरआन, सूरा-102 तकासुर, आयतें-1-3)

"कितनी ही बस्तियों को हमने तबाह कर दिया जो अपने जीवन-व्यापार पर इतरा गई थीं, अब देख लो उनके घरों को, कम ही कोई उनके बाद उन घरों में बसा है और हम ही उनके वारिस होकर रहे।"
(क़ुरआन, सूरा-28 क़सस, आयत-58)

10. बेजा ख़र्च की निन्दा

दूसरी तरफ़ क़ुरआन मजीद इस बात की भी सख़्त निन्दा करता है कि इनसान वैध तरीक़ों से कमाई हुई दौलत को अवैध कामों में उड़ाए, या अपने ही ऐश, लज़्ज़त और मज़े पर उसे ख़र्च करता चला जाए और अपना जीवन-स्तर अधिक-से-अधिक ऊँचा करने के अलावा अपनी दौलत का कोई और उपयोग उसकी निगाह में न हो–

"ख़र्च में सीमा से आगे न बढ़ो, अल्लाह फ़ुज़ूल-ख़र्च लोगों को पसन्द नहीं करता है।" (क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-141)

"फ़ुज़ूल-ख़र्ची न करो। फ़ुज़ूल-ख़र्च लोग शैतान के भाई हैं और शैतान अपने रब का नाशुक्रा है।"

(क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयतें-26,27)

"खाओ-पिओ और सीमा से आगे न बढ़ो, अल्लाह सीमा से आगे बढ़नेवालों को पसन्द नहीं करता है।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-31)

क़ुरआन मजीद के अनुसार इनसान के लिए सही रवैया यह है कि वह अपने ऊपर और अपने बाल-बच्चों पर ख़र्च करने में संतुलित ढंग से काम ले, उसके माल पर उसका स्वयं का और उसके सम्बन्धियों का हक़ है जिसे अदा करने में उसको कंजूसी भी नहीं करनी चाहिए, लेकिन सिर्फ़ यही एक हक़ नहीं है कि वह सबकुछ इसी पर लुटा दे और कोई दूसरा हक़ न पहचाने—

"और अपना हाथ न तो अपनी गर्दन से बाँध रख (कि कुछ ख़र्च न करे) और न उसे बिलकुल ही खोल दे कि निन्दित और बेबस बनकर बैठा रह जाए।" (क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयत-29)

"(और अल्लाह के नेक बन्दे वे हैं) जो ख़र्च में फ़ुज़ूल-ख़र्ची नहीं करते और न कंजूसी से काम लेते हैं, बल्कि इन दोनों के बीच सन्तुलन पर स्थिर रहते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-25 फ़ुरक़ान, आयत-67)

"जो माल अल्लाह ने तुझे दिया है उसके ज़रिए से आख़िरत के घर की बेहतरी की चिन्ता कर और अपना दुनिया का हिस्सा भी मत भूल और (ख़ुदा की मख़लूक़ के साथ) उपकार कर जिस तरह ख़ुदा ने तेरे साथ उपकार किया है और (अपनी दौलत के द्वारा) ज़मीन में बिगाड़ पैदा करने की कोशिश न कर।"

(क़ुरआन, सूरा-28 क़सस, आयत-77)

11. धन को ख़र्च करने के सही तरीक़े

सही सीमा के अन्दर अपनी आवश्यकताओं पर ख़र्च करने के बाद आदमी के पास उसके हलाल तरीक़ों से कमाए हुए धन-दौलत का जो हिस्सा बचे उसे खुद इन कामों पर ख़र्च करना चाहिए—

"लोग तुमसे पूछते हैं कि (खुदा की राह में) वे क्या ख़र्च करें, कह दो जो कुछ तुम्हारी आवश्यकता से अधिक हो।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-219)

"नेकी इस चीज़ का नाम नहीं है कि तुमने पूरब या पश्चिम की तरफ़ अपना मुँह कर लिया, बल्कि नेकी यह है कि आदमी दिल से ईमान लाए अल्लाह और आख़िरत के दिन पर और फ़रिश्तों पर, किताब पर और नबियों पर और अपना माल दे अल्लाह के प्रेम में अपने रिश्तेदारों को और यतीमों (अनाथों) को और निर्धनों और मुसाफ़िरों को और मदद के लिए हाथ फैलानेवालों को और ख़र्च करे ग़ुलामी से लोगों की गर्दन छुड़ाने में...।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-177)

"तुम नेकी का स्थान कदापि न पा सकोगे जब तक कि ख़र्च न करो तुम अपने वे माल (अल्लाह के मार्ग में) जो तुम्हें बहुत प्रिय हैं, और जो कुछ भी तुम ख़र्च करोगे वह अल्लाह को मालूम होगा।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-92)

"अल्लाह की बन्दगी करो और उसके साथ किसी को साझीदार न ठहराओ और अच्छा व्यवहार करो माँ-बाप के साथ, नातेदारों के साथ, अनाथों और मुहताजों के साथ, रिश्तेदार पड़ोसी और अपरिचित पड़ोसी और पहलू के साथी के साथ, मुसाफ़िरों के साथ और उन ग़ुलामों के साथ जो तुम्हारे अधिकार में हों—यक़ीन जानो अल्लाह इतरानेवालों और घमण्ड करनेवालों को पसन्द नहीं करता, जो खुद कंजूसी करते हैं और दूसरों को भी कंजूसी पर उभारते हैं और उस फ़ज़्ल (अनुग्रह) को छिपाते हैं जो अल्लाह ने उन्हें प्रदान

किया है। ऐसे नाशुक्रे लोगों के लिए हमने रुसवा कर देनेवाला अज़ाब तैयार कर रखा है और वे लोग भी अल्लाह को पसन्द नहीं हैं जो अपने माल सिर्फ़ दिखावे के लिए ख़र्च करते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयतें-36-38)

"(हक़ की राह में ख़र्च के हक़दार) वे तंगहाल लोग हैं जो अल्लाह की राह में ऐसे घिर गए हैं कि ज़मीन में अपनी रोज़ी कमाने के लिए दौड़-धूप नहीं कर सकते। अनजान आदमी इनका स्वाभिमान (खुद्दारी) देखकर इनको सम्पन्न समझता है, मगर तुम उनके चेहरों से उनकी भीतरी हालत पहचान सकते हो, वे पीछे पड़कर लोगों से नहीं माँगते। जो कुछ माल तुम उनपर ख़र्च करोगे वह अल्लाह से छिपा न होगा।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-273)

"और नेक लोग अल्लाह की मुहब्बत में खाना खिलाते हैं मुहताजों, अनाथों और क़ैदियों को और कहते हैं कि हम सिर्फ़ अल्लाह की खुशी के लिए तुमको खिलाते हैं। तुमसे किसी बदले और शुक्रिए के इच्छुक नहीं हैं।" (क़ुरआन, सूरा-76 दहर, आयतें-8,9)

"(और दोज़ख़ की आग से सुरक्षित) वे लोग हैं जिनके मालों में एक सुनिश्चित भाग है मदद के लिए हाथ फैलानेवाले और वंचित निर्धन के लिए (यानी उन्होंने अपने माल में उनका बाक़ायदा हिस्सा निश्चित कर रखा है)।"

(क़ुरआन, सूरा-70 मआरिज, आयतें-24,25)

"और तुम्हारे गुलामों में जो (लिखा-पढ़ी करके आज़ादी हासिल करने का) समझौता करना चाहें उनसे समझौता कर लो, अगर तुम उनके अन्दर कोई भलाई पाते हो और (इस फ़िद्या की अदाई के लिए) उनको अल्लाह के उस माल में से दो जो उसने तुम्हें प्रदान कर रखा है।" (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-33)

इस ख़र्च को क़ुरआन मजीद न सिर्फ़ एक बुनियादी नेकी कहता है, बल्कि चेतावनी स्वरूप वह यह भी कहता है कि ऐसा न करने में समाज की

सामूहिक तबाही है—

"ख़र्च करो अल्लाह के मार्ग में और अपने-आपको अपने हाथों हलाकत में न डालो और उपकार करो, अल्लाह उपकार करनेवालों को पसन्द करता है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-195)

12. धन-सम्बन्धी प्रायश्चित

इस सामान्य और स्वेच्छापूर्वक अल्लाह के मार्ग में ख़र्च करने के अलावा क़ुरआन मजीद कुछ गुनाहों और कोताहियों की तलाफ़ी के लिए माल-सम्बन्धी कफ़्फ़ारे (प्रायश्चित) भी निश्चित करता है। मिसाल के तौर पर कोई व्यक्ति क़सम खाकर तोड़ दे उसके लिए हुक्म है—

"इसका प्रायश्चित दस मुहताजों को खाना खिलाना है जैसा औसत दर्जे का खाना तुम अपने बाल-बच्चों को खिलाते हो, या उनको कपड़े देना है, या एक ग़ुलाम आज़ाद करना। मगर जो ऐसा न कर सकता हो वह तीन दिन रोज़े रखे।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-89)

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी बीवी को यह कह दे कि वह मेरी माँ-बहन के समान हराम है, फिर उससे वह रुजू करना चाहे, उसके लिए हुक्म है—

"इससे पहले कि दोनों एक-दूसरे को हाथ लगाएँ (शौहर) एक ग़ुलाम आज़ाद करे...और जो ग़ुलाम न पाता हो वह निरन्तर दो महीने के रोज़े रखे...और इसकी ताक़त न रखता हो वह साठ मुहताजों को खाना खिलाए।"

(क़ुरआन, सूरा-58 मुजादला, आयतें-3,4)

ऐसे ही प्रायश्चित हज के सिलसिले में भी कुछ कोताहियों के मामले में निर्धारित किए गए हैं। और ऐसा ही फ़िद्या रोज़ों के मामले में भी निर्धारित किया गया है।

13. ख़र्च के क़बूल होने की आवश्यक शर्तें

लेकिन ये ख़र्च क़ुरआन मजीद के अनुसार उसी सूरत में अल्लाह के

रास्ते का ख़र्च माना जा सकता है जबकि इसमें खुद-ग़रज़ी न हो, ढोंग और दिखावा न हो, उपकार जताने और दुख देने की कोई कोशिश न हो, अपना ख़राब माल छाँटकर न दिया जाए, बल्कि उत्तम और श्रेष्ठ माल दिया जाए और इसमें अल्लाह से प्रेम और उसकी प्रसन्नता के सिवा कोई उद्देश्य पेशे-नज़र न हो–

"(और अल्लाह उन लोगों को पसन्द नहीं करता) जो अपने माल लोगों को दिखाने के लिए ख़र्च करते हैं और अल्लाह और आख़िरत के दिन पर ईमान नहीं रखते, जिस आदमी का दोस्त शैतान हुआ उसको बहुत ही बुरा साथी मिला।' (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-38)

"ऐ लोगो, जो ईमान लाए हो! अपने दान उपकार जताकर और दुख देकर उस आदमी की तरह बरबाद न कर दो जो अपना माल लोगों को दिखाने के लिए ख़र्च करता है और अल्लाह और आख़िरत के दिन पर ईमान नहीं रखता है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-264)

"जो लोग अपने माल अल्लाह के मार्ग पर ख़र्च करते हैं, फिर अपने ख़र्च के बाद न उपकार जताते हैं और न दुख पहुँचाते हैं, उन्हीं के लिए अज्र (अच्छा बदला) है उनके रब (पालनहार) के पास और उनके लिए किसी भय और ग़म का मौक़ा नहीं है। एक भली बात और एक क्षमादान का व्यवहार उस अर्थदान से बेहतर है जिसके पीछे दुख पहुँचाना हो और अल्लाह बेनियाज़ और सहनशील है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-262,263)

"ऐ लोगो, जो ईमान लाए हो! अल्लाह के मार्ग में ख़र्च करो उन श्रेष्ठ चीज़ों में से जो तुमने कमाई हैं और जो हमने तुम्हारे लिए ज़मीन से निकाली हैं। रद्दी चीज़ें छाँटकर अल्लाह के मार्ग में न दो, जबकि अगर वे तुम्हें दी जाएँ तो तुम कदापि उन्हें न लोगे, सिवाय इसके कि अनदेखी कर जाओ। ख़ूब जान लो कि अल्लाह बेनियाज़ (निस्पृह) है और अच्छे गुणों से विभूषित है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-267)

"अगर अपने दान खुले रूप में दो तो यह भी अच्छा है, लेकिन अगर छिपाकर मुहताजों को दो तो यह तुम्हारे लिए ज़्यादा अच्छा है और तुम्हारी बहुत-सी बुराइयों को मिटा देनेवाला है और जो कुछ तुम करते हो अल्लाह को हर हाल में उसकी ख़बर है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-271)

14. अल्लाह की राह में ख़र्च की अस्ल हैसियत

यह ख़ुदा की राह का ख़र्च जिसे क़ुरआन कभी इनफ़ाक़, कभी इनफ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह, कभी सदक़ा और कभी ज़कात के शब्दों से परिभाषित करता है, सिर्फ़ एक नेकी और ख़ैरात नहीं है बल्कि एक इबादत और इस्लाम के पाँच रुक्नों—ईमान, नमाज़, ज़कात, रोज़ा और हज—में से तीसरा रुक्न (अंग) है। क़ुरआन मजीद में 37 जगहों पर इसका और नमाज़ का एक साथ उल्लेख किया गया है और पूरे ज़ोर के साथ बताया गया है कि ये दोनों चीज़ें इस्लाम का अभिन्न अंग और मोक्ष-केन्द्र हैं।[1] वह कहता है कि ज़कात हमेशा से इस्लाम का रुक्न है—

"और उनको (इबराहीम, लूत, इसहाक़ और याक़ूब अलैहिस्सलाम को) हमने इमाम (नायक) बनाया जो हमारे आदेश से लोगों का मार्गदर्शन करते थे और उनकी तरफ़ हमने नेक कामों का और नमाज़ क़ायम करने और ज़कात देने का आदेश भेजा और वे हमारे उपासक थे।" (क़ुरआन, सूरा-21 अम्बिया, आयत-73)

"और किताबवालों को इसके सिवा किसी चीज़ का आदेश नहीं

1. मिसाल के तौर पर क़ुरआन मजीद के निम्नलिखित स्थानों का अवलोकन करें—(सूरा-2 बक़रा, आयतें-3, 43, 83, 110, 177, 277), (सूरा-4 निसा, आयतें-77, 162), (सूरा-5 माइदा, आयतें-12, 55), (सूरा-8 अनफ़ाल, आयत-3), (सूरा-9 तौबा, आयतें-5, 11, 18, 71), (सूरा-13 रअद, आयत-22), (सूरा-14 इबराहीम, आयत-31), (सूरा-19 मरयम, आयतें-31, 55), (सूरा-21 अम्बिया, आयत-73), (सूरा-22 हज, आयतें-35, 41, 78), (सूरा-23 मोमिनून, आयत-2), (सूरा-24 नूर, आयतें-37, 56), (सूरा-27 नम्ल, आयत-3), (सूरा-31 लुक़मान, आयत-4), (सूरा-33 अहज़ाब, आयत-33), (सूरा-35 फ़ातिर, आयत-29), (सूरा-42 शूरा, आयत-38), (सूरा-58 मुजादला, आयत-13), (सूरा-70 मआरिज, आयत-23), (सूरा-73 मुज़्ज़म्मिल, आयत-20), (सूरा-74 मुद्दस्सिर, आयत-43), (सूरा-98 बैयिनह, आयत-5), (सूरा-107 माऊन, आयत-5)।

दिया गया था कि अल्लाह की बन्दगी करें दीन को अल्लाह के लिए ख़ालिस करके, यकसू होकर और नमाज़ क़ायम करें और ज़कात दें और यही सही दीन है।" (क़ुरआन, सूरा-98 बैयिनह, आयत-5)

"और इस किताब में इसमाईल की चर्चा करो। वह वादे का सच्चा और रसूल-नबी था और वह अपने सम्बन्धियों को नमाज़ और ज़कात का हुक्म देता था और अपने रब के निकट पसंदीदा आदमी था।" (क़ुरआन, सूरा-19 मरयम, आयतें-54,55)

"और याद करो इसराईल की सन्तान से हमने पक्का वचन लिया था कि तुम अल्लाह के सिवा किसी की बन्दगी न करोगे... और यह कि नमाज़ क़ायम करो और ज़कात दो।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-83)

"(मरयम के बेटे ने कहा कि) मैं अल्लाह का बन्दा हूँ, उसने मुझे किताब दी और मुझे नबी बनाया और मुझको बरकतवाला किया जहाँ भी मैं रहूँ और मुझे हिदायत दी कि जब तक मैं ज़िन्दा रहूँ नमाज़ और ज़कात का पाबन्द रहूँ।"

(क़ुरआन, सूरा-19 मरयम, आयतें-30,31)

इसी प्रकार यह ज़कात अब हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की शिक्षा में भी इस्लाम का एक रुक्न (अंग) बन गया है। मुस्लिम मिल्लत में किसी व्यक्ति के शामिल होने के लिए जिस तरह ईमान और नमाज़ ज़रूरी है उसी प्रकार ज़कात भी ज़रूरी है—

"(अल्लाह ने तुम्हारे लिए) तुम्हारे बाप इबराहीम का तरीक़ा निश्चित किया है, उसी ने तुम्हारा नाम मुस्लिम रखा है...अतः नमाज़ क़ायम करो और ज़कात दो और अल्लाह का दामन मज़बूती से थामे रहो।" (क़ुरआन, सूरा-22 हज, आयत-78)

"यह अल्लाह की किताब है। इसमें कोई सन्देह नहीं, मार्ग बताने-वाली है अल्लाह से डरनेवालों को जो बिना देखे माननेवाले हैं और नमाज़ क़ायम करते हैं और जो रिज़्क़ हमने उनको दिया है उसमें

से ख़र्च करते हैं।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-2,3)

"मोमिन तो वे लोग हैं कि जब अल्लाह का ज़िक्र उनके सामने किया जाता है तो उनके दिल काँप जाते हैं....जो नमाज़ क़ायम करते हैं और उस रिज़्क़ में से ख़र्च करते हैं जो हमने उन्हें दिया है। यही लोग हक़ीक़त में मोमिन हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-8 अनफ़ाल, आयतें-2-4)

"तुम्हारे साथी तो अल्लाह और अल्लाह के रसूल और वे लोग हैं जो ईमान लाए हैं, जो नमाज़ क़ायम करते और ज़कात देते हैं और ख़ुदा के सामने झुकनेवाले हैं।" (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-55)

"अगर मुशरिकीन (बहुदेववादी अपने शिर्क से) तौबा कर लें और नमाज़ क़ायम करें और ज़कात दें तो तुम्हारे दीनी भाई हो जाएँगे।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-11)

यह ज़कात केवल समाज की भलाई के लिए ही नहीं है बल्कि स्वयं ज़कात देनेवाले की अपनी आत्मा की शुद्धि (रूहानी तरक़्क़ी) और उनके व्यवहार की दुरुस्ती और उनकी कामयाबी और निजात के लिए ज़रूरी है। यह एक टैक्स नहीं है बल्कि नमाज़ की तरह एक इबादत है। इनसान की इस्लाहे-नफ़्स के लिए क़ुरआन जो तरीक़ा (दस्तूरे-अमल) देता है, यह उसका एक ज़रूरी हिस्सा है–

"ऐ नबी! उनके मालों में से सदक़ा लेकर उन्हें पाक करो और (नेकी की राह में) उन्हें बढ़ाओ और उनके हक़ में रहमत की दुआ करो, तुम्हारी दुआ उनके लिए शान्ति और सुकून का कारण होगी।" (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-103)

"तुम नेकी का मुक़ाम कभी न पा सकोगे जब तक कि अपनी अति प्रिय चीज़ें ख़र्च न करो।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-92)

"और ख़र्च करो यह तुम्हारे अपने ही लिए बेहतर है, और जो दिल की तंगी से बच गया, ऐसे ही लोग कामयाबी पानेवाले हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-64 तग़ाबुन, आयत-16)

15. लाज़िमी ज़कात और उसकी दर

क़ुरआन मजीद ने इस शिक्षा और मार्गदर्शन से समाज के लोगों में स्वेच्छापूर्वक अल्लाह के रास्ते में ख़र्च करने की जन-सामान्य एक आम रूह फूँक देने पर ही बस नहीं किया बल्कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) को यह हिदायत की कि कम-से-कम ख़र्च की एक सीमा सुनिश्चित करके एक कर्तव्य के तौर पर इस्लामी स्टेट की तरफ़ से उसके एकत्र करने और वितरित करने की व्यवस्था करें—

"ऐ नबी! उनके मालों में से सदक़ा वसूल करो।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-103)

यह एक 'सदक़ा' का शब्द इस बात की तरफ़ इशारा था कि आम सदक़े जो खुद लोग अलग-अलग देते हैं, उनके अलावा सदक़े की एक ख़ास मात्रा उनपर फ़र्ज़ (अनिवार्य) कर दी जाए और इसका निर्धारण अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) खुद करें। अतः इस आदेश के अनुसार आप (सल्ल॰) ने विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों के बारें में एक कम-से-कम सीमा निर्धारित कर दी, जिससे कम पर फ़र्ज़ ज़कात लागू न होगी। फिर निश्चित माल या उससे अधिक सम्पत्तियों पर विभिन्न मालों के मामले में ज़कात की निम्नलिखित दर निर्धारित कर दी—

1. सोने चाँदी और नक़द पूँजी की सूरत में जो दौलत जमा हो [1] उसपर ढाई प्रतिशत (2½ %) वार्षिक।
2. खेती की पैदावार पर, जब कि वह बारिश की ज़मीनों से हो 10 प्रतिशत।
3. खेती की पैदावार पर, जब कि कृत्रिम सिंचाई से हो तो 5 प्रतिशत।
4. खनिज पदार्थों पर जब कि वे निजी स्वामित्व में हो और गड़े हुए धन पर 20 प्रतिशत।

---

1. बाद में यह तय किया गया कि व्यापारिक मालों पर भी ढाई प्रतिशत (2½ %) वार्षिक दर से ज़कात लागू की जाए। (अश्-शूक़ानी, जिल्द-4, पृष्ठ 117) व्यापारिक ज़कात का यह नियम उन कारख़ानों पर भी लागू होगा जो बेचने के लिए विभिन्न प्रकार के सामान तैयार करते हैं।

5. जानवरों पर जो नस्ल बढ़ाने या बेचने के लिए पाले जाएँ, ज़कात की दर भेड़, बकरी, गाय, ऊँट आदि जानवरों के मामले में भिन्न-भिन्न है जिसको विस्तार से फ़िक़्ह की किताबों में देखा जा सकता है।

यह ज़कात की मात्रा आप (सल्ल०) ने अल्लाह के आदेश से उसी प्रकार मुसलमानों पर अनिवार्य की हैं जिस प्रकार प्रतिदिन पाँच वक़्त की कुछ रकअत नमाज़ें अनिवार्य की हैं। धार्मिक कर्तव्य एवं अनिवार्यता के एतिबार से इन दोनों के महत्व में कोई अन्तर नहीं है। क़ुरआन मजीद इस बात को इस्लामी हुकूमत के बुनियादी उद्देश्यों में गणना करता है कि वह नमाज़ और ज़कात की व्यवस्था स्थापित करे–

"(ईमानवाले, जिनको रक्षात्मक युद्ध की अनुमति दी जा रही है, वे लोग हैं) जिन्हें अगर हम ज़मीन पर सत्ता प्रदान करें तो यह नमाज़ क़ायम करेंगे, ज़कात देंगे, नेकी का हुक्म देंगे और बुराई से रोकेंगे।" (क़ुरआन, सूरा-22 हज, आयत-41)

"अल्लाह ने उन लोगों से जो तुममें से ईमान लाए और जिन्होंने अच्छे कर्म किए यह वादा किया है कि उन्हें ज़रूर ज़मीन में ख़लीफ़ा (नायक) बनाएगा....और नमाज़ क़ायम करो और ज़कात दो और रसूल की पैरवी करो ताकि तुमपर दया की जाए।"

(क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयतें-55,56)

लेकिन जैसा कि ऊपर की आयतों पर चिन्तन करने से स्पष्ट होता है, अनिवार्य ज़कात को एकत्र करने और बाँटने की व्यवस्था यद्यपि इस्लामी हुकूमत के कर्तव्यों में शामिल है, मगर इस्लामी हुकूमत न होने की सूरत में, या मुस्लिम हुकूमत के इस तरफ़ से ग़फ़लत बरतने की सूरत में मुसलमानों पर से यह फ़र्ज़ ख़त्म नहीं हो जाता, बिलकुल उसी तरह जिस प्रकार नमाज़ का फ़र्ज़ ख़त्म नहीं होता। कोई अगर एकत्र करने और बाँटनेवाला न हो तो निर्धारित मात्रा की सम्पत्ति रखनेवाले हर मुसलमान को ख़ुद अपनी सम्पत्ति से ज़कात निकालनी और वितरित करनी चाहिए।

16. युद्ध-क्षेत्र में प्राप्त शत्रु-सम्पत्ति का पाँचवाँ हिस्सा

फ़र्ज़ ज़कात लागू करने से जो धन प्राप्त होता है उसपर क़ुरआन मजीद ने एक और मद को बढ़ाया है और वह है युद्ध-क्षेत्र में प्राप्त शत्रु-सम्पत्ति (यानी ग़नीमत के माल) का एक हिस्सा। क़ुरआन मजीद ने यह नियम निर्धारित किया है कि हर लड़ाई में जो ग़नीमत का माल सेना के हाथ आए उसे सिपाही स्वयं ही न लूट लें बल्कि सबकुछ लाकर अपने कमाण्डर के हवाले कर दें और कमाण्डर उसके पाँच हिस्से करके चार हिस्से उन सिपाहियों में वितरित करे जिन्होंने युद्ध में भाग लिया हो और पाँचवाँ भाग अलग करके हुकूमत के हवाले कर दे–

> "तुमको मालूम हो कि जो कुछ ग़नीमत (शत्रु-धन) तुम प्राप्त करो उसका पाँचवाँ भाग अल्लाह और उसके रसूल और नातेदारों[1] और अनाथों और मुहताजों और मुसाफ़िरों के लिए है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-8 अनफ़ाल, आयत-41)

17. ज़कात ख़र्च करने के मद

इन दोनों मदों से जो माल प्राप्त हो वह क़ुरआन मजीद के अनुसार सार्वजनिक ख़ज़ाने का कोई हिस्सा नहीं है जिसका उद्देश्य ज़कात देनेवालों समेत सारे लोगों के लिए ख़ुशहाली और ज़रूरी सेवाएँ उपलब्ध कराना होता है, बल्कि क़ुरआन मजीद ने इसे निम्नलिखित मदों के लिए ख़ास किया है–

---

1. अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की ज़िन्दगी में शत्रु-धन के पाँचवें हिस्से में से एक हिस्सा स्वयं आप (सल्ल॰) अपने और अपने घरवालों की ज़रूरतों के लिए लेते थे, क्योंकि ज़कात में आप (सल्ल॰) का और आप (सल्ल॰) के रिश्तेदारों का कोई हिस्सा न था। लेकिन आप (सल्ल॰) की वफ़ात (मौत) के बाद इस बात पर मतभेद हुआ कि रसूल (सल्ल॰) और नातेदारों का हिस्सा किसको दिया जाए। कुछ लोगों की राय यह थी कि यह हिस्सा आप (सल्ल॰) के लिए हुकूमत के नायक होने की हैसियत से था और अब आप (सल्ल॰) के ख़लीफ़ा (नायब) और उसके सम्बन्धियों का हक़ है। कुछ दूसरे लोगों की राय थी कि यह अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के बाद भी आप (सल्ल॰) ही के सम्बन्धियों का अधिकार है। अन्त में इस बात पर सहमति बनी कि वह भाग जो आप (सल्ल॰) और सम्बन्धियों के लिए था, अब इस्लामी हुकूमत की जंगी ज़रूरतों के लिए निश्चित कर दिया जाए। (अल-जस्सास, जिल्द-3, पृष्ठ 75-77)

"सदक़े तो वास्तव में फ़क़ीरों[1] और मुहताजों[2] के लिए है और उन लोगों के लिए जो सदक़ों के जमा करने और बाँटने पर नियुक्त हों और उनके लिए जिनका दिल मोहना (तालीफ़े-क़ल्ब) अभीष्ट[3] हो और वह ख़र्च होने चाहिएँ ग़ुलामों की गरदनें छुड़ाने[4] में, क़र्ज़दारों की सहायता में, अल्लाह की राह में[5] और मुसाफ़िरों की सहायता में[6]

---

1. फ़क़्र के अस्ल मानी मुहताजी के हैं और फ़क़ीर हर वह व्यक्ति है जो अपनी ज़रूरत से कम आजीविका पाने के कारण मदद का मुहताज है। (लिसानुल-अरब, जिल्द-5, पृष्ठ 6-61)

2. हज़रत उमर (रज़ि.) का कथन है कि मिसकीन वह व्यक्ति है जो कमा न सकता हो या कमाने का अवसर न पाता हो। (अल-जस्सास, जिल्द-3, पृष्ठ 151) इस परिभाषा के अनुसार तमाम वे ग़रीब बच्चे जो अभी कमाने के लायक़ न हुए हों और अपाहिज (विकलाँग) और बूढ़े जो कमाने के क़ाबिल न रहे हों और बेरोज़गार और बीमार जो अस्थायी रूप से कमाने के अवसर से वंचित हो गए हों, मिसकीन हैं।

3. नबी (सल्ल.) के ज़माने में तीन प्रकार के लोगों के दिलों को आकर्षित करने के लिए धन दिया जाता था। (अ) उन इस्लाम विरोधियों को जो कमज़ोर मुसलमानों को तकलीफ़ देते या इस्लाम-दुश्मनी में कठोर थे, उन्हें धन देकर नर्म बरताव करने पर तैयार किया जाता था। (ब) जो लोग अपनी क़ौम या ख़ानदान के लोगों को इस्लाम क़बूल करने से बलपूर्वक रोकते थे उन्हें धन देकर इस बरताव से रुक जाने पर तैयार किया जाता था। (स) जो लोग नए-नए इस्लाम क़बूल करते थे उनकी आर्थिक सहायता की जाती थी, ताकि उनकी बेचैनी और परेशानी दूर हो और वे विश्वास के साथ मुसलमानों के साथ रहें। (अल-जस्सास, जिल्द-3, पृष्ठ 152)

4. इससे मुराद वे मुसलमान भी हैं जो लड़ाइयों में दुश्मनों के हाथ गिरफ़्तार होकर ग़ुलाम बना लिए जाते थे और वे ग़ैर-मुस्लिम भी जो मुसलमानों के यहाँ लड़ाई में गिरफ़्तार होकर आते और फ़िद्या देकर रिहाई हासिल करने की कोशिश करते थे तथा ग़ुलाम भी मुराद हैं जो पहले से ग़ुलाम चले आ रहे थे।

5. 'अल्लाह की राह' से मुराद जिहाद और हज है। जिहाद में जानेवाला स्वयं सेवक अगर अपनी आवश्यकताओं की हद तक मालदार भी हो तब भी वह ज़कात ले सकता है, क्योंकि जिहाद के लिए तैयारी करने और सफ़र आदि के ख़र्चों का भार उठाने के लिए आदमी का अपना माल काफ़ी नहीं हो सकता। इसी प्रकार हज के सफ़र में अगर आदमी का सफ़रे-ख़र्च ख़त्म हो जाए तो वह भी ज़कात लेने का अधिकार रखता है।

(अल-जस्सास, जिल्द-3, पृष्ठ 57-156, नैलुल-औतार जिल्द-4, पृष्ठ 46-144)

6. मुसाफ़िर अपने घर पर चाहे कितना भी मालदार हो, लेकिन सफ़र की हालत में अगर वह मदद का मुहताज हो जाए तो ज़कात लेने का उसे हक़ पहुँचता है।

(अल-जस्सास, जिल्द-3, पृष्ठ 157)

अल्लाह की तरफ़ से एक फ़र्ज़ के तौर पर।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-60)

18. मीरास के बँटवारे का नियम

किसी मर्द या औरत की मौत के बाद उसके छोड़े हुए माल के बारे में क़ुरआन मजीद का क़ानून यह है कि ये माल उसके माँ-बाप, उसकी औलाद और उसकी बीवी या शौहर (पति) के बीच निर्धारित अनुपात में विभाजित किया जाए और अगर माँ-बाप और औलाद न हों तो उसके सगे और अल्लाती और अख़याफ़ी (यानी सिर्फ़ माँ से सम्बन्धित और सिर्फ़ बाप से सम्बन्धित) भाई-बहनों को हिस्सा दिया जाए। इसके बारे में सविस्तार क़ानून सूरा-4 निसा, में बयान हुए हैं।[1] (देखें आयतें-7-12, 176) यहाँ हम अति विस्तार के डर से नक़ल नहीं कर रहे हैं।

इस मामले में क़ुरआन मजीद ने जो उसूल अपनाया है वह यह है कि जो माल एक आदमी के जीवन में एक जगह जमा हो गया हो वह उसकी मौत के बाद एक जगह जमा न रहने दिया जाए बल्कि उसके नातेदारों में फैला दिया जाए। यह उसूल वारिसों में सिर्फ़ सबसे बड़े को ही वारिस बनाना और संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति और ऐसे ही दूसरे तरीक़ों से विपरीत है जिनका मूल उद्देश्य यह है कि एक जगह जमा हुई दौलत मरनेवाले के बाद भी एक ही जगह जमा रहे।

इसी प्रकार क़ुरआन मजीद लेपालक बनाने के तरीक़े को भी रद्द कर देता है और यह नियम निश्चित करता है कि जो लोग वास्तविक रूप में रिश्तेदार हैं मीरास में अधिकार उन्हीं का है, किसी ग़ैर-आदमी को बेटा बनाकर बनावटी रूप से वारिस नहीं बनाया जा सकता—

---

1. नबी (सल्ल॰) ने इस क़ानून की जो व्याख्या की है उसके अनुसार निकटतम रिश्तेदारों की ग़ैर-मौजूदगी में मीरास क़रीबी रिश्तेदारों को पहुँचेगी और उनकी ग़ैर-मौजूदगी में (अन्त में) उसे उन लोगों में बाँटा जाएगा जो ग़ैरों की तुलना में मरनेवाले से कोई नाता रखते हों। लेकिन अगर कोई रिश्तेदार सिरे से मौजूद ही न हो तो फिर यह माल इस्लामी हुकूमत के ख़ज़ाने में जमा होगा। (नैलुल-औतार, जिल्द-6, पृष्ठ 47-56)

"अल्लाह ने तुम्हारे लिए मुँह-बोले बेटों को तुम्हारा बेटा नहीं बनाया है, यह तो एक बात है जो तुम बस अपने मुँह से निकालते हो।"
(क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-4)

"और रिश्तेदार ही अल्लाह की किताब में एक-दूसरे के ज़्यादा हक़दार हैं।" (क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-6)

लेकिन वास्तविक रिश्तेदार वारिसों के हक़ों को सुरक्षित कर देने के बाद क़ुरआन मजीद उनको यह हिदायत करता है कि मीरास बाँटने के अवसर पर जो ग़ैर-वारिस रिश्तेदार आएँ उनको भी वे अपनी ख़ुशी से कुछ-न-कुछ दें—

"और जब बँटवारे के अवसर पर रिश्तेदार और यतीम और मुहताज लोग आएँ तो उनको भी उसमें से कुछ दो और उनसे अच्छी तरह बात करो। लोगों को डरना चाहिए कि अगर वे अपने पीछे कमज़ोर औलाद छोड़ रहे होते तो उन्हें कैसी-कैसी शंकाएँ लगी होतीं, इसलिए चाहिए कि लोग अल्लाह से डरें।"
(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयतें-8,9)

19. वसीयत का नियम

क़ुरआन मजीद विरासत का क़ानून सुनिश्चित करने के साथ ही आदमी को यह हिदायत भी देता है कि वह मरने से पहले अपनी सम्पत्ति के बारे में वसीयत कर दे—

"तुमपर अनिवार्य कर दिया गया है कि जब तुममें से किसी की मौत का समय आए और वह काफ़ी माल छोड़ रहा हो तो माँ-बाप और नातेदारों के लिए वैध तरीक़े पर वसीयत कर दे, यह हक़ है परहेज़गारों पर।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-180)

इस आदेश का मंशा यह है कि एक तो मरनेवाला विशेषता के साथ अपने माँ-बाप के हक़ में अपनी औलाद को अच्छे व्यवहार की वसीयत कर जाए, क्योंकि उनसे बूढ़े दादा-दादी की सेवा करने की आशा कम ही की जा सकती है। दूसरे उनके ख़ानदान में जो लोग ऐसे हों जिन्हें क़ानून के अनुसार

मीरास में से हिस्सा नहीं पहुँचता, मगर मरनेवाला उन्हें सहायता-योग्य समझता हो तो उन्हें अपनी सम्पत्ति में से हिस्सा देने की वसीयत कर दे। इसके अलावा एक व्यक्ति अगर अधिक माल छोड़ रहा हो तो वह जन-कल्याण के कामों के लिए भी वसीयत करने में स्वतंत्र है। क्योंकि ऊपर लिखी आयत का मंशा यह नहीं है कि वसीयत की अनुमति केवल माँ-बाप और नातेदारों तक ही सीमित है।[1]

वसीयत और मीरास के इस क़ानून से यह बात स्पष्ट होती है कि निजी जायदाद के तरकों के मामले में इस्लामी स्कीम यह है कि दो तिहाई तो अवश्य मीरास के क़ानून के अनुसार वितरित हो और एक तिहाई मरनेवाले की इच्छाशक्ति पर छोड़ दिया जाए, ताकि वह जिस उद्देश्य के लिए चाहे उसे ख़र्च करने की वसीयत कर दे, लेकिन शर्त यह है कि वह वैध तरीक़े पर हो यानी वह काम भी वैध हो जिसके लिए वसीयत की गई है और इसमें किसी का हक़ भी मारा न जाए।[2]

20. नादान लोगों के हितों की सुरक्षा

जो लोग मन्दबुद्धि होने की वजह से अपनी जायदाद में से सही ख़र्च न कर सकते हों और उसको बरबाद कर रहे हों या सही तौर पर सन्देह हो कि बरबाद कर देंगे, उनके बारे में क़ुरआन मजीद हिदायत करता है कि उनकी

1. नैलुल-औतार, जिल्द-6, पृष्ठ 31-35। इस मामले में नबी (सल्ल०) की व्याख्या से क़ुरआन मजीद का जो मंशा मालूम होता है वह यह है कि आदमी के लिए अपने रिश्तेदारों को ग़रीब और मुहताज छोड़कर जन-कल्याण के कामों पर ख़र्च करने की वसीयत करना पसन्द नहीं है। नैलुल-औतार में बुख़ारी-मुस्लिम और हदीस की दूसरी किताबों से रसूल (सल्ल०) के जो शब्द नक़ल किए गए हैं वे ये हैं, "तेरा अपने रिश्तेदारों को ख़ुशहाल छोड़ना इस बात से बेहतर है कि तू उन्हें इस हाल में छोड़े कि वे मुहताज हों और लोगों के आगे हाथ फैलाएँ।

2. वसीयत के क़ानून की व्याख्या करते हुए नबी (सल्ल०) ने वसीयत के हक़ पर तीन हदें लागू की हैं। एक यह कि आदमी अधिक-से-अधिक अपने एक तिहाई माल की हद तक वसीयत का अधिकार प्रयोग कर सकता है। दूसरे यह कि जिन लोगों को नियमानुसार विरासत का हक़ पहुँचता हो उनके लिए कोई वसीयत दूसरे वारिसों की रज़ामन्दी के बग़ैर नहीं की जा सकती। तीसरे यह कि किसी वारिस को विरासत से वंचित करने या उसके हिस्से में कमी करने की वसीयत नहीं की जा सकती। (नैलुल-औतार, जिल्द-6, पृष्ठ 31 से 35)

जायदादें उनके क़ब्ज़े में न दी जाएँ, बल्कि वे उनके संरक्षक (देखभाल करनेवाला) या क़ाज़ी (अदालत) के इन्तिज़ाम में रहें और उन्हें उनकी जायदाद सिर्फ़ उस वक़्त सौंपी जाएँ जब इस बात का यक़ीन हो जाए कि वे अपने मामलों की अच्छी तरह देखभाल कर सकेंगे।

> "और अपने वे माल जिन्हें अल्लाह ने तुम्हारे लिए ज़िन्दगी क़ायम रखने का साधन बनाया है, नादान लोगों को न सौंपो, अलबत्ता उन्हें उसमें से खाने और पहनने के लिए दो और उन्हें नेक सुझाव दो और अनाथों की परख करते रहो यहाँ तक कि वे निकाह की उम्र को पहुँच जाएँ, फिर अगर तुम उनमें योग्यता पाओ तो उनके माल उनको सौंप दो।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयतें-5,6)

इन आयतों में एक महत्पूर्ण बात यह बयान की गई है कि निजी जायदादें अगरचे उन लोगों ही की सम्पत्ति हैं जो उनपर क़ानूनी तौर पर मिल्कियत के हक़ रखते हों, लेकिन वह पूरी उन्हीं की नहीं हैं बल्कि उनके सामूहिक हित भी जुड़े हुए हैं। इसी अधिकार पर क़ुरआन मजीद 'अमूवा-लहुम' (उनके माल) कहने की बजाय अमवा-लकुम (तुम्हारे माल) के शब्द का प्रयोग करता है और इसी बुनियाद पर वह संरक्षकों और क़ाज़ियों को यह अधिकार देता है कि जहाँ व्यक्तिगत जायदादों में अनुचित ख़र्च से समाज का सामूहिक नुक़सान किया जा रहा हो, या ऐसे नुक़सान का माक़ूल अन्देशा हो, वहाँ मालिक के मिल्कियत के हक़ और फ़ायदा उठाने के अधिकार को जारी रखते हुए उसके ख़र्च का अधिकार अपने हाथ में ले लें।[1]

21. सरकारी सम्पत्ति में सामूहिक हितों का लिहाज़

जो सम्पत्ति, माल और आय (आमदनी) हुकूमत के स्वामित्व में हों, उनके बारे में क़ुरआन मजीद हिदायत करता है कि उनका ख़र्च सिर्फ़ धनवान वर्गों के हितों में नहीं बल्कि आम लोगों के हितों में होना चाहिए और विशेषकर उनके ख़र्च में समाज के कमज़ोर एवं निर्धन वर्गों के हितों

1. इब्नुल-अरबी, अहकामुल-क़ुरआन, जिल्द-1, पृष्ठ 133; इब्ने-कसीर, तफ़सीरुल-क़ुरआन, जिल्द-1, पृष्ठ 452; अल-जस्सास, अहकामुल-क़ुरआन, जिल्द-2, पृष्ठ 72, 73

और भलाई का अधिक ध्यान रखा जाना चाहिए–

"जो कुछ भी अल्लाह बस्तियों के लोगों से अपने रसूल की तरफ़ पलटा दे वह अल्लाह के लिए है और रसूल[1] (सल्ल॰) के लिए और नातेदारों के लिए और अनाथों और मुहताजों और मुसाफ़िरों के लिए ताकि यह माल तुम्हारे मालदारों ही के बीच चक्कर न लगाता रहे ...और वह उन ग़रीब घरबार छोड़नेवालों (मुहाजिरीन) के लिए भी है जो अपने घरों और सम्पत्तियों से निकाल बाहर किए गए हैं...और वह उन अनसार का हक़ भी है जो अपने घरबार छोड़नेवालों के आने से पहले ईमान के साथ दारुल-इस्लाम में बसे हुए थे...और उसमें बाद के आनेवालों का भी हक़ है।"

(क़ुरआन, सूरा-59 हश्र, आयतें-7-10)

22. टैक्स (कर) लागू करने के बारे में इस्लाम का सैद्धान्तिक नियम

टैक्स (कर) लगाने के बारे में क़ुरआन उस सिद्धान्त की ओर मार्ग-दर्शन करता है कि करों का भार केवल उन लोगों पर पड़ना चाहिए जो अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति रखते हों और उनकी दौलत के सिर्फ़ उस भाग पर यह भार डाला जाना चाहिए जो उनकी आवश्यकता से अधिक बचता हो–

"वे लोग तुमसे पूछते हैं कि वे क्या ख़र्च करें, कह दो जो कुछ तुम्हारी ज़रूरत से बचे।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-219)

23. इस्लामी अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ

क़ुरआन मजीद के इन 22 बिन्दुओं में इनसान के आर्थिक जीवन के लिए जो योजना तैयार की गई हैं उसके बुनियादी उसूल और स्पष्ट

1. इससे मुराद इस्लामी हुकूमत की व्यवस्था और प्रतिरक्षा के ख़र्च हैं इसी मद से अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) और आप (सल्ल॰) के ख़ुलफ़ा (नायब) अपना गुज़ारा कर लेते थे और अपने कर्मचारियों (ज़कात एकत्र करनेवालों को छोड़कर) का वेतन भी देते थे। ज़कात उगाहनेवालों का वेतन ज़कात के माल में से दिया जाता था।

विशेषताएँ ये हैं—

1. यह स्कीम (योजना) आर्थिक न्याय ऐसे तरीक़े से स्थापित करती है जिससे एक तरफ़ हर तरह के आर्थिक अत्याचार और बेजा शोषण का निवारण भी हो और दूसरी ओर समाज में नैतिक गुणों का बढ़ावा भी हो सके। क़ुरआन मजीद के पेशे-नज़र ऐसा समाज बनाना नहीं है जिसमें कोई किसी के साथ ख़ुद नेकी न कर सके और लोगों के साथ नेकी और भलाई का हर काम एक संगठनात्मक मशीन के द्वारा होता रहे, क्योंकि इस प्रकार के समाज में नैतिक गुणों के फलने-फूलने की कोई सम्भावना नहीं रहती। क़ुरआन इसके प्रतिकूल एक ऐसा समाज बनाता है जिसमें लोग एक-दूसरे के साथ वफ़ादारी और निस्वार्थपूर्ण उदारता, हमदर्दी और सदाचार का व्यवहार करें और इसकी बदौलत उनके बीच आपसी प्रेम में बढ़ोत्तरी हो। इस उद्देश्य के लिए वह अधिकतर निर्भरता लोगों के अन्दर ईमान पैदा करने और उनको शिक्षण-प्रशिक्षण के द्वारा बेहतर इनसान बनाने की तदबीरों पर करता है। फिर जो कमी बाक़ी रह जाती है उसको पूरा करने के लिए वह उन सख़्त अटल आदेशों से काम लेता है जो सामूहिक सफलता के लिए अति आवश्यक हैं। (बिन्दु-8-13, 15-19)

2. इसमें आर्थिक मान्यताओं को नैतिक मान्यताओं से अलग रखने के बजाय दोनों को एक-दूसरे के साथ रखा गया है और आजीविका के मसलों को केवल आर्थिक दृष्टिकोण से लेकर हल करने के बजाय उन्हें उस सामूहिक जीवन-व्यवस्था के अनुपात में रखकर हल किया गया है, जिसकी इमारत इस्लाम ने पूर्णतः कायनात के ख़ुदा-परस्ताना तसव्वुर और नैतिक दर्शन पर सुदृढ़ की है। (बिन्दु-1, 2, 4, 5)

3. इसमें ज़मीन के आर्थिक संसाधनों को मानव-जाति पर ख़ुदा का आम अनुग्रह क़रार दिया गया है, जिसका तक़ाज़ा यह है कि वैयक्तिक, सामुदायिक या क़ौमी इजारादारियों को प्रोत्साहित न किया जाए और इसके बजाय ख़ुदा की ज़मीन पर तमाम मानव-जाति को आजीविका उपार्जन (कमाने) के ज़्यादा-से-ज़्यादा जहाँ तक सम्भव हो खुले अवसर प्रदान किए जाएँ। (बिन्दु-5)

4. इसमें व्यक्ति को निजी सम्पत्ति का अधिकार दिया गया है मगर असीमित नहीं। व्यक्ति के अधिकार पर दूसरे लोगों और समाज के हितों के ख़ातिर ज़रूरी पाबन्दियाँ लगाने के साथ यह स्कीम हर व्यक्ति के माल में उसके निकटतम नातेदारों, पड़ोसियों, दोस्तों, ज़रूरतमन्दों और कम पानेवाले इनसानों और सामूहिक रूप से पूरे समाज के अधिकारों को भी क़ायम करती है। इन अधिकारों में से कुछ जबरी तौर पर आलोचना योग्य हैं और कुछ को समझने और अदा करने के लिए खुद लोगों को मानसिक और नैतिक प्रशिक्षण के द्वारा तैयार करने का प्रबन्ध किया गया है।

(बिन्दु-3, 5, 7-15, 17, 19, 20)

5. मानव-जीवन की आर्थिक व्यवस्था को चलाने की फ़ितरी सूरत इस स्कीम के अनुसार यह है कि लोग इसे स्वतंत्रतापूर्ण दौड़-धूप और कोशिश के ज़रिए से चलाएँ और तरक़्क़ी दें। लेकिन यह स्वतंत्रतापूर्ण दौड़-धूप और कोशिश इसमें स्वतंत्र नहीं रखी गई है बल्कि समाज की और खुद उन लोगों की अपनी नैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक भलाई के लिए इसे कुछ सीमाओं से सीमित किया गया है। (बिन्दु-6, 7, 15, 22)

6. इसमें औरत और मर्द दोनों को उनकी कमाई हुई और मीरास (पैतृक सम्पत्ति) या दूसरे जाइज़ साधनों से पाई हुई दौलत का एक समान मालिक ठहरा दिया गया है और दोनों (यानी मर्द-औरत) को अपने सम्पत्ति-अधिकार से लाभान्वित होने के समान अधिकार दिए गए हैं। (बिन्दु-3, 4, 18)

7. इसमें आर्थिक सन्तुलन बरक़रार रखने के लिए एक तरफ़ तो लोगों को कंजूसी और रहबानियत (संन्यास) से रोककर खुदा की नेमतों के उपयोग पर उभारा गया है और दूसरी ओर उन्हें अनुचित ख़र्च और फ़ुज़ूल-ख़र्ची तथा अय्याशी से सख़्ती के साथ मना किया गया है। (बिन्दु-5, 8-10)

8. इसमें आर्थिक न्याय स्थापित करने के लिए यह प्रबन्ध किया गया है कि धन-दौलत का बहाव न तो ग़लत साधनों से किसी ख़ास दिशा में चल पड़े और न वैध साधनों से आई हुई दौलत कहीं एक स्थान पर एकत्र होकर बेकार रुकी रह जाए। इसके साथ वह यह प्रबन्ध भी करती है कि दौलत अधिक-से-अधिक उपयोग और गरदिश में आए और उसकी गरदिश से

विशेष रूप से उन लोगों को हिस्सा मिले जो किसी कारणवश अपना उचित भाग पाने से वंचित रह जाते हों।

(बिन्दु-6-10, 12, 13, 15, 17-19, 21)

9. यह स्कीम (योजना) आर्थिक न्यान स्थापित करने के लिए क़ानून और हुकूमत के हस्तक्षेप पर अधिक निर्भर नहीं रहती। कुछ अति आवश्यक उपायों को हुकूमत की ज़िम्मेदारी क़रार देने के बाद वह इस उद्देश्य के लिए अपने शेष उपायों को लोगों के मानसिक व नैतिक प्रशिक्षण और सामाजिक सुधार के द्वारा लागू करती है। ताकि आज़ाद दौड़-धूप की अर्थव्यवस्था की तार्किक अपेक्षाओं को बरक़रार रखते हुए आर्थिक न्याय का उद्देश्य प्राप्त हो सके। (बिन्दु-5-22)

10. समाज के विभिन्न वर्गों में आपसी कशमकश पैदा करने के बजाय वह उसके कारणों को समाप्त करके उनके मध्य सहयोग और अपनत्व की आत्मा पैदा करती है। (बिन्दु-4, 6-11, 12, 15-17, 21, 22)

ये नियम नबी (सल्ल॰) और ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन के ज़माने में जिस तरह अमली तौर से हुकूमत और समाज के निज़ाम में लागू किए गए थे उनसे हमको आदेशों और प्रमाणों की सूरत में अधिक विवरण प्राप्त होते हैं। लेकिन यह बहस इस लेख के विषय से अलग है। इसके बारे में हदीस, फ़िक़्ह, इतिहास की किताबों और नबी (सल्ल॰) की जीवनी में विस्तृत विषय-सामग्री मौजूद है जिसकी तरफ़ विवरण के लिए रुजू किया जा सकता है।

■■

अध्याय-3

पूँजीवाद बनाम इस्लाम

इस्लाम ने समाजवादी तथा पूँजीवादी दोनों आर्थिक प्रणालियों के बीच जो मध्यमार्गी आर्थिक दृष्टिकोण अपनाया है, उस पर एक व्यावहारिक व्यवस्था का भवन तैयार करने के लिए वह नैतिकता और क़ानून दोनों से मदद लेता है। अपनी नैतिक शिक्षाओं के द्वारा वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इस व्यवस्था के ऐच्छिक पालन के लिए मानसिक रूप से तैयार करता है तथा क़ानूनी शक्ति द्वारा वह उनपर ऐसे प्रतिबन्ध लगाता है जो उन्हें इस प्रणाली की सीमा में रहने पर विवश करें और परिधि को न लाघने दें। ये नैतिक नियम तथा क़ानूनी आदेश इस आर्थिक व्यवस्था के स्तम्भ हैं। इसलिए इस प्रणाली की प्रकृति को समझने के लिए ज़रूरी है कि उनपर एक विस्तृत दृष्टि डाल लें।

1. धनोपार्जन की रीतियों में वैध तथा अवैध का भेद

सबसे पहली चीज़ यह है कि इस्लाम अपने माननेवालों को धन कमाने का आम लाइसेंस नहीं देता बल्कि कमाने के तरीक़ों में सामूहिक हित के आधार पर वैध और अवैध का भेद करता है। यह भेद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि धनोपार्जन की वे सभी तरीक़े अवैध है जिनमें एक व्यक्ति को लाभ तथा दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों को नुक़्सान हो, और हर वह तरीक़ा वैध है जिसमें लाभ का बंटवारा सम्बन्धित लोगों के बीच न्यायोचित ढंग से हो। पवित्र क़ुरआन इस सिद्धान्त का उल्लेख इस प्रकार करता है—

> ''ऐ लोगो जो ईमान लाए हो! आपस में एक-दूसरे के माल अनुचित ढंग से न खाओ—यह और बात है कि तुम्हारी आपसी सहमति से कोई व्यापार हो, और न आपस में एक-दूसरे की हत्या करो, निस्सन्देह अल्लाह तुम पर बहुत दयावान है। और जो कोई ज़ुल्म और ज़्यादती से ऐसा करेगा, तो उसे हम जल्द ही आग में झोंक देंगे। (क़ुरआन, सूरा-4 अन-निसा, आयतें-29-30)

क़ुरआन के उपर्युक्त आयत में व्यापार से आशय है वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रतिफल के साथ लेन-देन। आपसी सहमति की शर्त लगाकर लेन-देन के उन सभी तरीक़ों को अवैध कर दिया गया है जिनमें किसी भी प्रकार का दबाव हो या कोई धोखा या कोई ऐसी चालाकी हो जो यदि दूसरे पक्षकार को ज्ञात हो जाए तो वह उसपर राज़ी न हो। फिर अधिक ज़ोर देकर कहा गया—"न आपस में एक दूसरे की हत्या करो"। इसके दो अर्थ हैं और दोनों ही यहाँ अर्थ रखते हैं—एक यह कि तुम आपस में एक-दूसरे की हत्या न करो, दूसरा यह कि तुम स्वयं अपने-आपको क़त्ल न करो। अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति अपने हित के लिए दूसरे का अहित करता है वह मानो वह उसका ख़ून पीता है और अन्ततः स्वयं अपनी बर्बादी का रास्ता खोलता है।

इस सैद्धान्तिक आदेश के अतिरिक्त पवित्र क़ुरआन में विभिन्न स्थानों पर धनोपार्जन के जिन तरीक़ों को वर्जित किया गया है वे इस प्रकार हैं—

"घूसख़ोरी और माल हड़पना।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-188)

"अमानत में ख़यानत चाहे व्यक्तिगत धन का हो या सरकारी धन का।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-283)

"अनाथ के धन का अनुचित रूप से ख़र्च।"
(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-10)

"नाप-तौल में कमी।" (क़ुरआन, सूरा-83 मुतफ़्फ़िफ़ीन, आयत-3)

"अश्लीलता फैलाने वाले कारोबार। (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-19)

"देहव्यापार और वेश्यावृत्ति।" (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-2;33)

"शराब बनाना, बेचना तथा उसका यातायात।"
(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

"जुआ तथा ऐसे सभी साधन जिनसे कुछ लोगों के माल दूसरे लोगों को हस्तान्तरण मात्र भाग्य और संयोग पर आधारित हों।"
(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

"मूर्ति बनाने व बेचने का कारोबार।"
(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

"ज्योतिषी और फ़ाल निकालना।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

"सूदी कारोबार।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-275, 278, 280)

2. धन संग्रहण का निषेध

दूसरा महत्वपूर्ण आदेश यह है कि जायज़ तरीक़ों से जो धन कमाया जाए उसको जमा करके न रखा जाए, क्योंकि इससे धन के संचार की गति रुक जाती है। परिणामतः धन के वितरण का सन्तुलन बिगड़ जाता है। दौलत समेट-समेटकर जमा करनेवाला स्वयं दौलत की मुहब्बत के रोग का शिकार हो जाता है साथ ही पूरी सोसाइटी के विरुद्ध एक घोर अपराध करता है और इसका नतीजा अन्ततः स्वयं उसके लिए भी बुरा होता है। इसी लिए पवित्र क़ुरआन कन्जूसी और क़ारूनियत का सख़्त विरोधी है–

"जो लोग अल्लाह की दी हुई अनुकम्पा में कन्जूसी करते हैं वे यह न समझें कि यह कन्जूसी उनके लिए अच्छी है, नहीं यह उनके लिए बहुत ही बुरी है।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-180)

"और जो लोग सोना-चाँदी इकट्ठा करते हैं और उसको अल्लाह के मार्ग में ख़र्च नहीं करते, उन्हें दर्दनाक यातना की सूचना दे दो।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-34)

यह चीज़ पूंजीवादी सोच पर चोट लगाती है। बचत को जमा करना और जमा की गई दौलत को और अधिक दौलत पैदा करने में निवेश करना यही पूंजीवाद की जड़ हैं, मगर इस्लाम सिरे से इस बात को पसन्द ही नहीं करता कि आदमी अपनी ज़रूरत से अधिक धन को जमा करके रखे।

3. ख़र्च करने का आदेश

जमा करने के बजाए इस्लाम ख़र्च करने की शिक्षा देता है, मगर ख़र्च करने से उसका उद्देश्य यह नहीं है कि आप भोग-विलास तथा गुलछर्रे उड़ाने में दौलत को लुटा दें, बल्कि वह ख़र्च करने का हुक्म 'ईश्वरीय मार्ग' के

प्रतिबन्ध के साथ देता है, यानी आपके पास अपनी आवश्यकता की आपूर्ति से जो बच जाए उसको सोसाइटी की भलाई के कामों में ख़र्च कर दें। यही ईश्वरीय मार्ग है–

"और वे तुमसे पूछते हैं कितना ख़र्च करें? कहो जो आवश्यकता से अधिक हो।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-219)

"अच्छा व्यवहार करो माँ-बाप के साथ, नातेदारों, अनाथों और मोहताजों के साथ, नातेदार पड़ोसियों और अपरिचित पड़ोसियों के साथ और निकट बैठनेवाले साथियों के साथ और मुसाफ़िरों के साथ और उनके साथ जो तुम्हारे अधिकार में हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-36)

"और उनके मालों में माँगनेवालों और धनहीन का हक़ है।"

(क़ुरआन, सूरा-51 ज़ारियात, आयत-19)

यही वह बिन्दु है जहाँ इस्लामी अवधारणा पूंजीवादी दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न हो जाती है। पूंजीपति समझता है कि ख़र्च करने से ग़रीब हो जाऊँगा और जमा करने से मालदार बनूँगा। इस्लाम कहता है कि ख़र्च करने से बरकत होगी, तेरी दौलत घटेगी नहीं, बल्कि और बढ़ेगी।

"शैतान तुम्हें निर्धनता से डराता है और (कंजूसी जैसे) लज्जापूर्ण कामों पर उभारता है जबकि अल्लाह अपनी क्षमा और उदार अनुकम्पा का तुम्हें वचन देता है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-268)

सरमायादार समझता है कि जो ख़र्च कर दिया, वह खो गया। इस्लाम कहता है कि खो नहीं गया बल्कि उसका उत्तम लाभ तुम्हारी ओर पलट कर आएगा–

"और नेक कामों में जो कुछ तुम ख़र्च करोगे वह तुम्हें पूरा-पूरा वापस मिलेगा और तुम पर हरगिज़ ज़ुल्म न होगा।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-272)

"और जिन लोगों ने हमारे दिए हुए माल में खुले और छुपे ख़र्च

किया वे एक ऐसे व्यापार की आशा रखते हैं जिसमें कभी घाटा न होगा। अल्लाह उन्हें पूरा-पूरा बदला देगा बल्कि अपने उदार अनुग्रह से उन्हें और अधिक भी देगा।''

(क़ुरआन, सूरा-35 फ़ातिर, आयतें-29,30)

पूंजीपति समझता है कि दौलत को जमा करके ब्याज पर देने से दौलत बढ़ती है। इस्लाम कहता है कि नहीं, ब्याज से तो दौलत घट जाती है। दौलत बढ़ाने का तरीक़ा यह है उसे नेक कामों से ख़र्च किया जाए–

''अल्लाह ब्याज को मिटाता है तथा सदक़ों (दान-पुण्य) को बढ़ाता है।'' (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-276)

''और यह जो तुम ब्याज देते हो कि लोगों के मालों में बढ़ोत्तरी हो तो अल्लाह की दृष्टि में उससे धन नहीं बढ़ता। बढ़ोत्तरी तो उन मालों में होती जो तुम अल्लाह के लिए ज़कात में देते हो।''

(क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-39)

यह एक नया दृष्टिकोण है जो पूंजीवादी सोच के बिल्कुल विपरीत है। ख़र्च करने से दौलत का बढ़ना और ख़र्च किए हुए माल का समाप्त न होना बल्कि उसका पूरा-पूरा बदला कुछ अतिरेक सहित वापस आना, ब्याज द्वारा माल में अधिकता के बजाए उलटा घाटा होना, दान-पुण्य और ज़कात से माल में कमी होने के बजाए वृद्धि होना—ये अजीब-सी बातें मालूम होती है। सुननेवाला समझता है कि शायद इन सब बातों का सम्बन्ध केवल परलोक में प्राप्त होनेवाले पुण्य से होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इन बातों का सम्बन्ध परलोक के पुण्य में से भी है और इस्लाम की दृष्टि में वास्तविक महत्व उसी का है। परन्तु यदि गहराई से चिन्तन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इस संसार में भी आर्थिक दृष्टि से यह अवधारणा एक सुदृढ़ आधार पर स्थापित है। माल जमा करने और उसे ब्याज पर चलाने का आख़िरी नतीजा यह है कि दौलत सिमट-सिमटकर कुछ गिने-चुने लोगों के पास इकट्ठी हो जाए। आम लोगों की क्रय-शक्ति दिन-प्रतिदिन घटती चली जाए। उद्योग, व्यापार और कृषि में 'मन्दी' छा जाए। राष्ट्र का आर्थिक जीवन तबाही के आख़िरी छोर पर जा पहुँचे और अन्ततः पूँजीपतियों के लिए भी अपनी जमाराशि को

बढ़ोत्तरी के कार्यों में निवेश करने के अवसर शेष न बचे।[1] इसके विपरीत माल के ख़र्च करने और ज़कात और दान देने का नतीजा यह है कि तमाम लोगों तक दौलत फैल जाए, प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त क्रय-शक्ति प्राप्त हो, उद्योग पनपें, खेतियाँ लहलहाएँ, व्यापार में ख़ूब बढ़ोत्तरी हो। चाहे कोई लखपति-करोड़पति न हो मगर सब ख़ुशहाल और चिन्ता-मुक्त हों। इस नज़रिए की सच्चाई देखनी हो तो अमेरिका के वर्तमान आर्थिक संकट को देखें जहाँ ब्याज के कारण ही साधनों के वितरण का सन्तुलन बिगड़ गया है और औद्योगिक मन्दी ने राष्ट्र के आर्थिक जीवन को तबाही के सिरे पर पहुँचा दिया है। इसकी तुलना में इस्लामी युग के आरम्भिक काल को देखिए कि जब इस आर्थिक विचार को व्यावहारिक रूप दिया गया तो कुछ वर्षों के भीतर ही राष्ट्र की सम्पन्नता इस ऊँचाई पर पहुँच गई कि लोग ज़कात और दान की रक़म को लेनेवाले लोगों को ढूँढ़ते फिरते थे और बड़ी मुश्किल से कोई ऐसा व्यक्ति मिलता था जो स्वयं ज़कात देनेवाला न हो। इन दोनों स्थितियों की तुलना करने से ज्ञात हो जाएगा कि अल्लाह किस प्रकार ब्याज को घटा देता है और सदक़ा व ज़कात को बढ़ावा देता है।

फिर इस्लाम जो मानसिकता पैदा करता है वह पूंजीवादी मानसिकता से पूर्णतया भिन्न है। पूँजीपति के दिमाग़ में यह बात बैठ ही नहीं सकती कि एक व्यक्ति अपना धन दूसरे को ब्याज के बग़ैर भी दे सकता है। वह ऋण पर ब्याज तो लेता ही है और अपने मूलधन तथा ब्याज की प्राप्ति के लिए क़र्ज़दार के कपड़े और घर के बर्तन तक की कुर्की करा लेता है। मगर इस्लाम की शिक्षा यह है कि ज़रूरतमन्द को केवल क़र्ज़ ही न दो बल्कि अगर वह तंगी में हो तो उसपर तक़ाज़े में सख़्ती न करो यहाँ तक कि यदि वह देने में समर्थ नहीं हो तो उसके ऋण को माफ़ कर दो। क़ुरआन में है—

> "अगर ऋणी तंगी में हो तो उसकी स्थिति सुधरने तक मोहलत दे दो, और अगर (ऋण को) माफ़ कर दो तो यह तुम्हारे लिए अधिक

---

1. इसी बात की ओर संकेत है हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के इस कथन का—"सूद चाहे कितना ही अधिक हो मगर अन्ततः वह कमी की ओर ही पलटता है।"

(इब्ने-माजा, बैहक़ी, अहमद)

उत्तम है। इसका लाभ तुम समझ सकते हो, अगर ज्ञान रखते हो।"
(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-280)

पूँजीवादी व्यवस्था में सहकारिता का अर्थ है कि आय पहले सहकारी संस्था में शुल्क जमा करके मेम्बर बनिए फिर अगर आपको कोई ज़रूरत पेश आएगी तो संस्था बाज़ार की प्रचलित दर से कुछ कम ब्याज दर पर ऋण दे देगी। यदि आपके पास पैसा नहीं है तो सहकारी संस्था से आप कोई सहायता प्राप्त नहीं कर सकते। इसके विपरीत इस्लामी अवधारणा यह कि जो लोग सम्पन्न हों और समर्थ रखते हों वे आवश्यकता पड़ने पर अपने कम समर्थ रखनेवाले भाइयों को न केवल ऋण दें बल्कि ऋण की अदाएगी में उनकी मदद करें। इसी लिए ज़कात के ख़र्च की मदों में एक मद—क़र्ज़दारों के क़र्ज़ अदा करना' भी है।

पूंजीपति अगर भलाई के कामों में ख़र्च करता है तो केवल दिखावे के लिए क्योंकि उस कमनज़र के नज़दीक इस ख़र्च का कम से कम इतना बदला तो मिल ही जाए कि उसका नाम हो जाए, वह लोकप्रिय हो जाए, उसकी साख बढ़े और समाज में धाक बैठ जाए। मगर इस्लाम कहता है कि ख़र्च करने में दिखावा बिल्कुल ही नहीं होना चाहिए। खुले या छिपे जो भी ख़र्च करो उसमें यह उद्देश्य न हो कि उसका बदला किसी न किसी ढंग से तुरन्त मिल जाए। बल्कि निस्स्वार्थ काम करो। इस तरह यह ख़र्च दुनिया से लेकर आख़िरत तक फलता-फूलता नज़र आएगा और लाभ पर लाभ पैदा करता दिखाई देगा।

> "जो व्यक्ति अपने माल को दिखावे के लिए ख़र्च करता है उसकी मिसाल ऐसी है जैसे एक चट्टान पर मिट्टी पड़ी हुई थी। उसमें बीज बोया गया मगर पानी का एक रेला आया और मिट्टी को बहा ले गया। और जो व्यक्ति अपनी सोच को ठीक रखकर अल्लाह की प्रसन्नता के लिए ख़र्च करता है उसकी मिसाल ऐसी है जैसे एक अच्छी भूमि में बाग लगाया गया, अगर बारिश हो गई तो दुगना फल लाया, यदि बारिश न हुई तो मात्र हल्की बून्दें उसके लिए काफ़ी है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-264,265)

"यदि तुम खुले तौर पर सदक़े दो यह भी अच्छा है और यदि उनको छिपाकर मुहताजों तक पहुँचा दो तो यह तुम्हारे लिए और अधिक अच्छा है। (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-271)

पूँजीपति व धनवान अगर नेक कामों में कुछ ख़र्च भी करता है तो अनमने ढंग से करता है और अपना ख़राब से ख़राब माल देता फिर जिसको देता है उसकी आधी जान अपनी ज़ुबान के नश्तरों से निकाल लेता है। इस्लाम, इसके बिलकुल विपरीत यह सिखाता है कि अच्छा माल ख़र्च करो, ख़र्च करके एहसान न जताओ, बल्कि ऐसी इच्छा ही न रखो कि कोई तुम्हारे सामने एहसानमन्दी प्रकट करे–

"तुमने जो कुछ कमाया है और जो कुछ हमने तुम्हारे लिए धरती से निकाला है उसमें से उत्तम माल को (ईश्वरीय मार्ग में) ख़र्च करो न यह कि ख़राब माल छांट कर देने लगो।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-267)

"अपने सदक़ों को एहसान जताकर और दुख पहुँचाकर बर्बाद न कर लो।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-264)

"और वे अल्लाह की मुहब्बत में मुहताज, अनाथ और क़ैदी को खाना खिलाते हैं और कहते हैं कि हम तो अल्लाह के लिए तुमको खिलाते हैं, हम तुमसे कोई बदला या शुक्रिया नहीं चाहते।"

(क़ुरआन, सूरा-76 दह्‌र, आयतें-8,9)

छोड़िए इस सवाल को कि नैतिकता के दृष्टिकोण से इन दोनों सोचों में कितना बड़ा अन्तर है, हम कहते हैं कि विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ही देख लीजिए कि लाभ और हानि के इन दोनों सिद्धान्तों में से कौन ज़्यादा मज़बूत और दूरगामी परिणामों के आधार पर ज़्यादा सही है। फिर जब फ़ायदे और नुक़सान के मामले में इस्लामी अवधारणा वह है जो आप पढ़ चुके हैं तो यह कैसे सम्भव है कि इस्लाम किसी भी रूप में सूदी ब्याज पर आधारित कारोबार को जायज़ रखे?

4. ज़कात

जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ, आर्थिक क्षेत्र में इस्लाम जिस उद्देश्य को सामने रखता है वह यह है कि दौलत किसी स्थान पर जमा न होने पाए। वह चाहता है कि सोसायटी में जिन व्यक्तियों को अपनी बेहतर योग्यता या सौभाग्य के कारण उनकी आवश्यकता से अधिक दौलत प्राप्त हो गई हो वे उसको समेट कर न रखें बल्कि ख़र्च करें और ऐसे मदों पर ख़र्च करें जिनसे दौलत के संचार में सोसायटी के कम भाग्यशाली लोगों को भी पर्याप्त हिस्सा मिल जाए। इसके लिए इस्लाम एक ओर अपने उच्च्व स्तरीय नैतिक उपदेशों के द्वारा उदारता और वास्तविक सहभागिता की भावना पैदा करता है ताकि लोग स्वयं अपने आप दौलत जमा करने को बुरा समझें तथा उसे ख़र्च कर देने की ओर प्रेरित हों। दूसरी ओर वह ऐसा क़ानून बनाता है कि जो लोग दानशीलता की इस शिक्षा के बावजूद अपने लालची स्वभाव के कारण रुपया जोड़ने और धन जमा करने की मानसिकता रखते हों या जिनके पास किसी न किसी तौर पर माल जमा हो जाए। उनके माल में से कम से कम एक भाग सोसाइटी के कल्याण के लिए अवश्य निकलवा लिया जाए। इसी चीज़ का नाम ज़कात है, और इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था में इसको इतना महत्व दिया गया है कि इसे इस्लाम के महत्वपूर्ण अंगों में शामिल कर दिया गया है। नमाज़ के बाद सबसे अधिक इसी की ताकीद की गई है और साफ़-साफ़ कह दिया गया है कि जो व्यक्ति माल जमा करता है उसका माल उसके लिए जायज़ ही नहीं हो सकता जब तक कि वह ज़कात अदा न करे—

> "ऐ नबी! उनके मालों में से एक सदक़ा (दान) वसूल करो जो उनको पवित्र कर दे और उनकी आत्मा को शुद्ध करे।
>
> (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-103)

आयत के अन्तिम वाक्यांश से स्पष्ट हो रहा है कि मालदार व्यक्ति के पास जो धन जमा होता है वह इस्लाम की नज़र में एक अपवित्रता है और वह पवित्र नहीं हो सकता जब तक उसका मालिक उसमें से प्रतिवर्ष एक निश्चित मात्रा, ईश्वरीय मार्ग में ख़र्च न करे। यह ईश्वरीय मार्ग क्या है? ईश्वर तो सर्वसम्पन्न है, उसको न तुम्हारा माल पहुँचता है, न वह इसकी

ज़रूरत रखता है। उसका मार्ग बस यही है कि तुम स्वयं अपनी क़ौम के तंगहाल (ग़रीब) लोगों को ख़ुशहाल बनाने की कोशिश करो और ऐसे कल्याणकारी कार्यों को बढ़ावा दो जिनका लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त हो–

> "सदक़ा तो बस ग़रीबों, मुहताजों और उन लोगों के लिए है जो इसके वसूल करने के काम पर नियुक्त हों और उनके लिए जिनके दिलों को आकृष्ट करना अभीष्ट हो और क़ैदख़ानों से गर्दनों को छुड़ाने और क़र्ज़दारों के क़र्ज़ अदा करने और अल्लाह के मार्ग में और मुसाफ़िरों की सहायता में।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-60)

यह मुसलमानों की कोऑपरेटिव सोसाइटी है, यह उनकी बीमा कम्पनी है यह उनका प्रॉविडेंट फन्ड (भविष्य-निधि) है। यह उन लोगों के लिए वित्तीय सहायताकोष है जो आजीविकोपार्जन कर सकने में असमर्थ हैं। यह उनके असमर्थ, विकलांगों, बीमारों, अनाथों, विधवाओं और बेरोज़गारों के भरण-पोषण का साधन है। यह इस बात की गारंटी है कि मुस्लिम समाज में कोई व्यक्ति जीवन की मूल आवश्यकताओं से वंचित न रहेगा। सबसे बढ़कर यह वह चीज़ है जो मुसलमान को दुनिया की चिन्ता से मुक्त कर देती है। इसका सीधा-सादा-सा सिद्धान्त यह है कि आज तुम मालदार हो तो दूसरों की मदद करो। कल तुम निर्धन हो गए तो दूसरे तुम्हारी मदद करेंगे। तुम्हें यह चिन्ता करने की ज़रूरत ही नहीं कि ग़रीब हो गए तो क्या होगा? मर गए तो बीवी-बच्चों का क्या हाल होगा? कोई विपत्ति आ पड़ी, बीमार हो गए, घर में आग लग गई, बाढ़ आ गई दिवालिया हो गए तो इन विपदाओं से कैसे निपटेंगे? यात्रा के दौरान रक़म न हुई तो क्या होगा? इन सब चिन्ताओं से सिर्फ़ ज़कात तुम्हें सदा के लिए चिन्तामुक्त कर देती है। तुम्हारा काम केवल इतना है कि अपनी जमा राशि में से एक भाग से अल्लाह की 'बीमा कम्पनी' में अपना बीमा करा लो। इस समय इस दौलत की तुम्हें आवश्यकता नहीं है, यह उनके काम आएगी जो इसके ज़रूरतमन्द हैं। कल जब तुम ज़रूरतमन्द होगे या तुम्हारे बच्चे ज़रूरतमन्द होंगे तो न केवल तुम्हारा दिया हुआ माल बल्कि आवश्यकता होने पर उससे भी अधिक तुम्हें वापस मिल जाएगा।

यहाँ फिर पूंजीवाद और इस्लाम के नियम व सिद्धान्त एक दूसरे से बिल्कुल उलट दिखाई पड़ते हैं। पूंजीवाद की माँग यह है कि धन को जमा किया जाए और उसको बढ़ाने के लिए ब्याज पर ऋण दिए जाएँ ताकि इन नालियों के द्वारा आप-पास के लोगों का धन भी सिमट कर इस 'झील' में जमा हो जाए। इस्लाम इसके विपरीत, यह हुक्म देता है कि प्रथमतः धन को रोक कर न रखा जाए और यदि रुक गया हो तो उस तालाब में से ज़कात की नहरें निकाल दी जाएँ ताकि जो खेत सूखे हैं उनको पानी पहुँचे और आस-पास की पूरी ज़मीन लहलहा उठे। पूंजीवादी व्यवस्था में धन का आदान-प्रदान पूरी तरह रुक जाता है और इस्लाम में पूर्णतः गतिमान। पूँजीवाद के तालाब से पानी लेने के लिए ज़रूरी है कि स्वयं आपका पानी वहाँ पहले से मौजूद हो, वरना आप एक बून्द वहाँ से नहीं ले सकते। इसकी तुलना में इस्लाम के पानी के स्टॉक का नियम यह है कि जिसके पास ज़रूरत से ज़्यादा पानी हो वह उसमें डाल दे, और जिसको ज़रूरत हो वह उसमें से ले ले। स्पष्ट है कि ये दोनों तरीक़े अपनी प्रकृति की दृष्टि से एक-दूसरे के विपरीत है, और एक ही अर्थव्यवस्था में इन दोनों को इकट्ठा करना वास्तव में दो बिल्कुल उलट चीज़ों को इकट्ठा करना है। जिसकी कल्पना कोई भी विवेकशील व्यक्ति नहीं कर सकता।

5. उत्तराधिकार का नियम

अपनी आवश्यकताओं पर ख़र्च करने और ईश्वरीय मार्ग में दान करने और ज़कात (अनिवार्य दान) अदा करने के पश्चात् यदि दौलत किसी एक स्थान पर सिमट कर रह गई हो, तो उसको समाज में फैलाने के लिए फिर एक रीति इस्लाम ने अपनाई है, वह है इस्लाम का उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम। इस क़ानून का मंशा यह है कि जो व्यक्ति माल छोड़कर मर जाए चाहे वह माल अधिक हो या कम, उसको टुकड़े-टुकड़े करके निकट व दूर के सभी रिश्तेदारों में एक नियमबद्ध तरीक़े से फैला दिया जाए। अगर कोई उत्तराधिकारी न हो या न मिले तो 'ले पालक' बनाने का अधिकार देने के स्थान पर उसका माल मुसलमानों के बैतुलमाल (सार्वजनिक फन्ड) में दे देना चाहिए, ताकि उससे पूरी क़ौम लाभान्वित हो। उत्तराधिकार का यह क़ानून

जैसा इस्लाम में है किसी और आर्थिक प्रणाली में नहीं पाया जाता। दूसरी आर्थिक प्रणालियों का झुकाव इस ओर है कि जो दौलत एक व्यक्ति ने इकट्ठी की हो वह उसके बाद भी एक या कुछ व्यक्तियों के पास सिमटी रहे।[1] मगर इस्लाम दौलत के सिमटने को पसन्द ही नहीं करता। वह इसको फैलाना चाहता है ताकि धन का संचार सरलता से होता रहे।

6. युद्ध में प्राप्त माल का वितरण

इस मामले में भी इस्लाम ने वही उद्देश्य सामने रखा है। युद्ध में जो माल सैनिकों के हाथ आए उसके सम्बन्ध में नियम यह है कि उसके पाँच भाग किए जाएँ। चार भाग फ़ौज में वितरित कर दिए जाएँ, एक भाग सार्वजनिक कार्यों के लिए रख लिया जाए।

> "और तुम्हें मालूम हो कि जो कुछ तुमको ग़नीमत (युद्ध में प्राप्ति) का माल हाथ आए उसका पाँचवाँ भाग अल्लाह और उसके रसूल और रसूल के नातेदारों और अनाथों और मुहताजों व मुसाफ़िरों के लिए है।" (क़ुरआन, सूरा-8 अनफ़ाल, आयत-41)

अल्लाह और रसूल (सल्ल०) के हिस्से से तात्पर्य उन सार्वजनिक उद्देश्यों एवं कार्यों से है जिनकी निगरानी अल्लाह और रसूल (सल्ल०) के आदेशों द्वारा इस्लामी शासन को सौंपी गई है। रसूलुल्लाह (सल्ल०) के रिश्तेदारों को हिस्सा इसलिए रखा गया था कि ज़कात में उनका हिस्सा न था, रसूलुल्लाह (सल्ल०) इस हिस्से में से अपने रिश्तेदारों के हक़ अदा करते थे, बाद में यह हिस्सा भी पहली मद में ख़र्च किया जाने लगा।

इसके बाद खुम्स में तीन वर्गों का हिस्सा विशेष तौर पर रखा गया है। समाज के अनाथ बच्चे ताकि उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था हो और उनको जीवन के संघर्ष से जूझने के योग्य बनाया जाए। मसाकीन (बहुत ग़रीब) जिनमें विधवाएँ, अपंग, बीमार और निर्धन सब शामिल हैं। मुसाफ़िर (यात्री) का हक़ रखकर इस्लाम ने अपनी नैतिक शिक्षा में लोगों में यात्रियों की सेवा

1. बड़े बेटे को उत्तराधिकारी बनाने का नियम (Primogeni ture) तथा संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System) इसी उद्देश्य पर आधारित हैं।

की भावना पैदा की है और साथ ही ज़कात, दान तथा युद्ध में प्राप्त माल में यात्रियों का अंश रखा है। यह वह चीज़ है जिसने इस्लामी देशों में व्यापार, पर्यटन, शिक्षा, अनुसंधान तथा हालात की जानकारी के लिए लोगों की आवाजाही में बड़ी आसानी पैदा की।

युद्ध के जीतने पर जो भूमि तथा धन इस्लामी स्टेट के हाथ आए उनके लिए यह क़ानून बनाया गया कि उनको पूर्णरूप से शासन के आधिपत्य में रखा जाए।

> "अल्लाह ने अपने रसूल की ओर बस्तियों के बाशिन्दों से "फ़ै" के रूप में जो माल पलटाया है वह अल्लाह और उसके रसूल और रसूल के रिश्तेदारों और अनाथों और मुहताजों और मुसाफ़िरों के लिए है ताकि यह माल केवल मालदारों के बीच ही चक्कर न लगाता रहे। ...और इसमें उन ग़रीब मुहाजिरों का भी हिस्सा है जो अपने घरों और जायदादों से बेदख़ल करके निकाल दिए गए हैं... और उन लोगों का भी हिस्सा है जो पहले ही से हिजरत के घर (मदीना) में ठिकाना बनाए हुए थे,...और उन भावी नस्लों का भी हिस्सा है जो बाद में आनेवाली हैं।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-59 हश्र, आयतें-7-10)

क़ुरआन के इन आयतों में न केवल उन मदों की व्याख्या की गई है जिनमें फ़ै का माल ख़र्च किया जाएगा बल्कि साफ़ तौर पर उस उद्देश्य की ओर भी इशारा कर दिया गया है जिसको इस्लाम ने फ़ै के माल के बंटवारे ही के लिए नहीं वरन् अपनी पूरी आर्थिक व्यवस्था में अपने समक्ष रखा है अर्थात् "धन तुम्हारे धनवानों में ही चक्कर न लगाता रहे।" यह विषय जिसे क़ुरआन ने एक छोटे वाक्यांश में व्यक्त किया है इस्लामी अर्थव्यवस्था का मूलाधार है।

7. ख़र्च में बीच की राह अपनाने का आदेश

एक ओर इस्लाम ने दौलत को सभी लोगों में फैलाने तथा मालदारों के धन में असम्पन्न को हिस्सेदार बनाने का प्रबन्ध किया है तो दूसरी ओर वह

प्रत्येक व्यक्ति को अपने ख़र्च में बीच की राह अपनाने और किफ़ायत से काम लेने का आदेश देता है ताकि लोग अपने आर्थिक संसाधनों के प्रयोग में अधिकता या कमी को अपनाकर दौलत का सन्तुलन न बिगाड़ दे। पवित्र क़ुरआन की शिक्षा इस सम्बन्ध में यह है—

> "अपने हाथ न तो अपनी गरदन से बान्धे रखो (कि कुछ ख़र्च ही न करो) और न बिल्कुल ही खोल दो कि निन्दित और निस्सहाय होकर बैठे रह जाओ।" (क़ुरआन, सूरा-17 बनी इसराईल, आयत-29)

> "अल्लह के नेक बन्दे वे हैं जो ख़र्च करने में न 'अति' करते हैं और न कंजूसी अपनाते हैं, बल्कि इन दोनों के बीच 'सन्तुलन' पर रहते हैं।" (क़ुरआन, सूरा-25 फ़ुरक़ान, आयत-67)

इस शिक्षा का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप जो कुछ ख़र्च करे, अपनी आय की सीमा में रहकर ख़र्च करे। न इतना हद से आगे बढ़ जाए कि उसका ख़र्च उसकी आमदनी से बढ़ जाए यहाँ तक कि वह अपनी फ़ुज़ूलख़र्चियों के लिए लोगों के आगे हाथ फैलाता फिरे, दूसरों की कमाई पर डाका मारे, वास्तविक आवश्यकता न होने पर भी ऋण ले, फिर या तो उनके ऋण मार खाए या उनका भुगतान करते-करते अपने संसाधान समाप्त करके अपने स्वयं के करतूतों के नतीजे में ग़रीबों और निर्धनों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाए। दूसरी ओर न इतना कंजूस बन जाए कि उसके संसाधन उसे जितना ख़र्च करने की अनुमति देते हों उतना भी ख़र्च न करे। फिर अपनी हद में रहकर ख़र्च करने का यह अर्थ नहीं कि अगर वह अच्छी आमदनी रखता है तो अपनी सारी कमाई केवल अपने ऐश-आराम और बड़ा बनने पर ख़र्च कर दे; जबकि उसके सगे-सम्बन्धी, मित्र और पड़ोसी कठिनाई का जीवन व्यतीत कर रहे हों। इस प्रकार के स्वार्थपरक ख़र्च को भी इस्लाम फ़ुज़ूलख़र्ची में गिनता है—

> "अपने नातेदारों को उनका हक़ दो और निर्धन और मुसाफ़िर को भी। फ़ुज़ूलख़र्ची न करो, फ़ुज़ूलख़र्ची करनेवाले शैतानों के भाई हैं और शैतान अपने रब का नाशुक्रा है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-17 बनी इसराईल, आयतें-26, 27)

इस्लाम ने इस सम्बन्ध में केवल नैतिक शिक्षा देकर ही नहीं छोड़ दिया है बल्कि उसने कंजूसी और फ़ुज़ूलख़र्ची की अतिवादी (Extreme) परिस्थितियों को रोकने के लिए क़ानून भी बनाए हैं और ऐसे सभी तरीक़ों को समाप्त करने का प्रयास किया है जो संसाधनों के वितरण (Distribution of Wealth) के सन्तुलन को बिगाड़नेवाले हैं। वह जुए को अवैध घोषित ठहराता है। शराब और व्यभिचार से रोकता है। खेल-तमाशे की बहुत-सी आदतों को, जो समय और धन को बर्बाद करते हैं, मना करता है। गाने-बजाने की स्वाभाविक पसन्द को उस सीमा तक पहुँचने से रोकता है जहाँ इनसान का उसमें तल्लीन होने पर आध्यात्मिक व नैतिक पतन होने के साथ आर्थिक जीवन भी अव्यवस्था पैदा करने का कारण हो सकता है और वास्तव में हो भी जाता है। इस्लाम कला और सुन्दरता के स्वाभाविक रुझान को भी एक सीमा में रखता है। मूल्यवान पहनावे, जवाहरात के गहने, सोने-चाँदी के बर्तन, तस्वीरों तथा मूर्तियों की मनाही सम्बन्धी हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के जो आदेश हैं उन सबमें एक बड़ी मसलहत यह भी है कि जो दौलत तुम्हारे बहुत-से ग़रीब भाइयों की ऐसी ज़रूरतें जिनको अनदेखा नहीं किया जा सकता की पूर्ति कर सकती है उनको जीवन के साधन प्रदान कर सकती है उस दौलत को केवल अपने शरीर और अपने घर की सजावट पर ख़र्च कर देना 'अच्छी पसन्द' नहीं बल्कि पत्थरदिली और ख़ुदग़र्ज़ी है। अतः नैतिक नियमों तथा क़ानूनी आदेशों दोनों तरीक़ों से इस्लाम ने इनसान को जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया है वह ऐसा सादा जीवन है कि उसमें इनसान की आवश्यकताओं और इच्छाओं का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं हो सकता कि वह एक औसत दर्जे की आमदनी में गुज़र-बसर न कर सके और उसे अपनी सीमा से बाहर निकलकर दूसरों की कमाई में हिस्सा लड़ाने की ज़रूरत पड़े। अगर वह औसत से अधिक आय रखता हो तो अपना सारा माल स्वयं अपने आप पर ख़र्च कर दे और अपने उन भाइयों की मदद न कर सके जो औसत से कम आय रखते हों।

अध्याय-4

इस्लामी अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त और उद्देश्य

(यह एक भाषण है जो मौलाना मौदूदी रह॰ ने 17 दिसम्बर 1965 ई॰ को पंजाब विश्वविद्यालय की एक विचार-गोष्ठी में दिया था।)

सज्जनो! मुझे कुछ विशेष प्रश्नों पर अपनी राय प्रकट करने के लिए आमंत्रित किया गया है। इन सवालों को मैं सबसे पहले पढ़कर सुना देता हूँ, ताकि आपको मालूम हो जाए कि जिन बातों पर तर्क-वितर्क करना है उनकी हदें क्या हैं।

प्रश्न : पहला सवाल यह है कि क्या इस्लाम ने कोई आर्थिक व्यवस्था प्रस्तावित की है? अगर की है तो उस व्यवस्था की रूपरेखा क्या है और उसमें भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध का क्या स्थान है?

दूसरा सवाल यह है कि क्या ज़कात और सदक़े को आर्थिक कल्याण के लिए प्रयोग किया जा सकता है?

तीसरा प्रश्न यह है कि क्या हम ब्याज-मुक्त आर्थिक व्यवस्था चला सकते हैं?

और चौथा प्रश्न यह है कि इस्लाम की दृष्टि में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का आपस में क्या सम्बन्ध है?

इन सवालों में से एक-एक प्रश्न ऐसा है कि अगर आदमी उसके विस्तार में जाए तो एक किताब लिखी जा सकती है, लेकिन मैं यह सोचकर कि मेरे श्रोतागण उच्च शिक्षित वर्ग के लोग हैं, जिनके लिए केवल संकेत काफ़ी हो सकते हैं, इनमें से हर प्रश्न पर संक्षेप में बात करूँगा।

पहले प्रश्न का उत्तर

पहले सवाल के दो हिस्से हैं। एक यह कि क्या इस्लाम ने कोई आर्थिक

व्यवस्था प्रस्तावित की है और अगर की है तो उसकी रूप-रेखा क्या है? और दूसरा हिस्सा यह कि उस रूप-रेखा में भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्धन का क्या स्थान है? प्रश्न के पहले हिस्से का जवाब यह है कि इस्लाम ने निस्सन्देह एक आर्थिक व्यवस्था पेश की है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने प्रत्येक ज़माने के लिए विस्तार के साथ एक आर्थिक व्यवस्था बनाकर दे दी है, जिसमें आर्थिक जीवन से सम्बन्धित समस्त बातें विस्तारपूर्वक निश्चित कर दी गई हों, बल्कि वास्तव में इसका मतलब यह है कि उनमें हमें ऐसे मौलिक सिद्धान्त दिए गए हैं जिनके आधार पर हम हर ज़माने के लिए एक आर्थिक व्यवस्था स्वयं बना सकते हैं। इस्लाम का नियम यह है, जो क़ुरआन और हदीस को ध्यानपूर्वक पढ़ने से अच्छी तरह समझ में आ भी जाता है, कि जीवन के हर विभाग के सम्बन्ध में वह एक प्रकार से उसकी सीमाएँ नियत कर देता है और हमें बता देता है कि ये सीमाएँ हैं जिनमें तुम अपने जीवन के इस विभाग का निर्माण करो। इन सीमाओं से बाहर तुम नहीं जा सकते, लेकिन इनके अन्दर रहकर तुम अपनी परिस्थितियों, आवश्यकताओं और अनुभवों के अनुसार विस्तृत नियम चीज़ें स्वयं तय कर सकते हो। निजी ज़िन्दगी के मामलों से लेकर सभ्यता और संस्कृति के सभी विभागों तक इस्लाम ने इनसानों की रहनुमाई इसी ढंग पर की है और उसके मार्गदर्शन का यही तरीक़ा हमारी आर्थिक व्यवस्था के बारे में भी है। यहाँ भी उसने कुछ सिद्धान्त हमको दिए हैं और कुछ सीमाएँ सुनिश्चित कर दी हैं, ताकि उनके अन्दर हम अपनी आर्थिक व्यवस्था को रूप दे सकें। तफ़सीली बातें तय करने का काम प्रत्येक ज़माने के लिहाज़ से होना चाहिए और ऐसा ही होता भी रहा है। आप देखेंगे कि इन्हीं सीमाओं के अन्दर हमारे फ़क़ीहों (धर्म विधिज्ञों) ने अपने ज़माने में आर्थिक व्यवस्था के आदेश बड़े ही विस्तार के साथ तैयार किए थे, जो इस्लामी विधिशास्त्रों में हमें मिलते हैं। उन्होंने जो कुछ संकलित किया है वह उन सिद्धान्तों से लिया गया है जो इस्लाम ने दिए हैं और उन सीमाओं के अन्दर हैं जो सीमाएँ उसने निश्चित कर दी हैं। उन तफ़सीली चीज़ों में से जो चीज़ें आज भी हमारी आवश्यकताओं के मुताबिक़ हैं, उनको हम वैसे का वैसा ही ले लेंगे और जो

नई आवश्यकताएँ अब हमें पेश आ रही हैं, उनके लिए हम दूसरे और आदेश निकाल सकते हैं, लेकिन वे अनिवार्यतः इस्लाम के दिए हुए सिद्धान्तों से उद्धृत होने चाहिएँ और उसकी नियत की हुई सीमाओं से मर्यादित होने चाहिएँ।

इस्लामी आर्थिक व्यवस्था के मूल उद्देश्य

इससे आप समझ सकते हैं कि जब हम कहते हैं कि इस्लाम की एक आर्थिक व्यवस्था है तो उसका भाव क्या होता है। अब जो सिद्धान्त इस्लाम ने हमको दिए हैं उनको बयान करने से पहले मैं चाहता हूँ कि आप उन उद्देश्यों (Objectives) को अच्छी तरह समझ लें, जिनका ध्यान इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था में रखा गया है। क्योंकि इसके बिना उन सिद्धान्तों को न तो भली-भांति समझा जा सकता है और न परिस्थितियों और आवश्यकताओं पर उन्हें लागू किया जा सकता है और न विस्तृत आदेश उन सिद्धान्तों की अस्ल रूह के अनुसार प्राप्त किए जा सकते हैं।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा

पहली चीज़ जो अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में इस्लाम की दृष्टि में है, वह यह है कि मनुष्य की आज़ादी को सुरक्षित रखा जाए और सिर्फ़ उस सीमा तक पाबन्दी लगाई जाए जिस सीमा तक मानव-जाति के कल्याण के लिए अनिवार्य है। इस्लाम इनसान की आज़ादी को बहुत बड़ा महत्व देता है। इसकी वजह यह है कि इस्लाम में प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत रूप में अल्लाह के सामने उत्तरदायी है। यह उत्तरदायित्व केवल सामूहिक नहीं है बल्कि अस्ल में प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप में अलग-अलग उत्तरदायी है और उसे अलग-अलग अपने कर्मों का हिसाब देना है। इस उत्तरदायित्व के लिए ज़रूरी है कि इनसान को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का ज़्यादा से ज़्यादा अवसर उसकी ख़ुद अपनी रुचियों, अपनी योग्यताओं और अपने चुनावों के अनुसार दिया जाए। यही कारण है कि इस्लाम लोगों के लिए नैतिक और राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ उनकी आर्थिक स्वतंत्रता को भी महत्व देता है। अगर व्यक्ति को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त न हो तो उसकी

नैतिक और राजनैतिक स्वतंत्रता का भी अन्त हो जाता है। आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि जो व्यक्ति अपने आर्थिक मामले में किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था या हुकूमत पर आश्रित हो वह अगर अपना कोई स्वतंत्र मत रखता भी हो तो वह अपने उस मत के अनुसार कार्य करने में स्वतंत्र नहीं हो सकता। इसलिए इस्लाम आर्थिक व्यवस्था के लिए हमको ऐसे सिद्धान्त देता है, जिनसे व्यक्ति के लिए अपनी रोज़ी कमाने के मामले में ज़्यादा-से-ज़्यादा आज़ादी प्राप्त रहे और उसपर सिर्फ़ उतनी पाबन्दी लगाई जाए, जितनी वास्तव में मानव-कल्याण के लिए अनिवार्य है। इसी लिए इस्लाम राजनैतिक व्यवस्था भी ऐसी चाहता है जिसमें हुकूमत लोगों के स्वतंत्र मतों से बने, लोगों को अपनी इच्छा से उसको बदलने का अधिकार प्राप्त हो, लोगों के या उनके विश्वासपात्र प्रतिनिधियों के परामर्श से उसका शासन चलाया जाए। लोगों को उसमें आलोचना करने और अपना मत प्रकट करने की पूरी आज़ादी हो और हुकूमत को असीमित अधिकार प्राप्त न हों, बल्कि उसे उन सीमाओं के अन्दर ही रहकर काम करने का अधिकार हो, जो क़ुरआन और सुन्नत के सर्वोच्च क़ानून ने उसके लिए निर्धारित कर दी हैं। इसके अतिरिक्त इस्लाम में अल्लाह की तरफ़ से लोगों के मूल अधिकारों को स्थाई रूप से नियत कर दिया गया है, जिन्हें छीनने का किसी को अधिकार नहीं है। यह सब कुछ इसलिए है कि लोगों की स्वतंत्रता सुरक्षित रहे और निरंकुशता की कोई ऐसी शासन व्यवस्था थोपी न जाए, जिसमें मानव व्यक्तित्व का विकास ठिठर कर रह जाए।

नैतिक सुधार पर बल और दबाव का कम-से-कम प्रयोग

दूसरी बात यह है कि इस्लाम इनसान के नैतिक विकास को बुनियादी महत्व देता है और इस उद्देश्य के लिए आवश्यक है कि समाज की सामूहिक व्यवस्था में व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक भले काम करने के अधिक-से-अधिक अवसर प्राप्त हों, ताकि इनसानी ज़िन्दगी में दानशीलता, सहानुभूति, उपकार और अन्य नैतिक गुण क्रियात्मक रूप ले सकें। इसी कारण आर्थिक न्याय स्थापित करने के लिए इस्लाम केवल क़ानून पर निर्भर नहीं करता बल्कि इस मामले में वह सबसे बढ़कर जिस चीज़ को महत्व देता है वह यह है कि

ईमान, इबादत, शिक्षा और नैतिक सुधार के माध्यम से इनसान के दिल-दिमाग़ को सुधारा जाए, उसकी रुचि को बदला जाए, उसके सोचने के ढंग को बदला जाए और उसके अन्दर एक मज़बूत नैतिक चेतना पैदा की जाए, जिससे वह स्वयं न्याय पर जम सके। इन सब उपायों से जब काम न चले तो मुसलमानों के समाज को इतना जीवन्त होना चाहिए कि वह अपने सामूहिक दबाव से आदमी को नियमों का पाबन्द रख सके। इससे भी जब काम न चले तब इस्लाम क़ानून की ताक़त इस्तेमाल करता है ताकि बलपूर्वक न्याय स्थापित किया जाए। इस्लामी दृष्टि से हर वह सामूहिक व्यवस्था ग़लत है जो न्याय की स्थापना के लिए सिर्फ़ क़ानून की ताक़त पर भरोसा करे और मनुष्य को इस तरह बांध कर रख दे कि उसे स्वेच्छापूर्वक भलाई करने का सामर्थ्य ही प्राप्त न हो।

तीसरी बात यह है कि इस्लाम इस बात का अलमबरदार है कि सारे मनुष्य एक हैं और भाई-भाई हैं और वह पारस्परिक टकरावों और अनुचित संघर्ष का विरोधी है। इसी लिए वह मानव समाज को वर्गों में विभाजित नहीं करता और स्वाभाविक रूप से जो वर्ग पाए जाते हैं उनको वर्गीय संघर्ष के बजाए सहानुभूति और सहयोग के पथ पर लाता है। मानव-समाज का अगर आप विश्लेषण करेंगे तो आपको मालूम होगा कि यहाँ दो प्रकार के वर्ग पाए जाते हैं। पहली प्रकार के वे वर्ग हैं जिनको कृत्रिम रूप से एक अत्याचारपूर्ण राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अनुचित ढंग से पैदा करती है और फिर ज़बरदस्ती उनको बाक़ी रखती है। मिसाल के तौर पर वे वर्ग जिन्हें ब्रह्मणवाद ने पैदा किए या वे जिन्हें जागीरदारी व्यवस्था (Feudal System) ने पैदा किए या वे जिन्हें पाश्चात्य की पूंजीवादी व्यवस्था (Western Capitalist System) ने जन्म दिया। इस्लाम न तो स्वयं ऐसे वर्गों को पैदा करता है और न उनको बाक़ी रखना चाहता है, बल्कि वह तो अपनी सुधार नीति और क़ानूनी प्रयत्नों से उनको ख़त्म कर देता है। दूसरे प्रकार के वर्ग वे हैं जो इनसानी योग्यताओं के अन्तर और मानवीय परिस्थितियों के अन्तर के कारण स्वभावतः पैदा हो जाते हैं और स्वाभाविक ढंग पर ही बदलते रहते हैं। इस्लाम ऐसे वर्गों को न ज़बरदस्ती मिटाता है, न उनको स्थाई वर्गों में

परिवर्तित करता है और न उन्हें आपस में लड़ाता है, बल्कि वह अपनी नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणाली के द्वारा उनके बीच सन्तुलित न्यायसंगत सहयोग की भावना पैदा करता है, उनको एक-दूसरे का हमदर्द, मददगार और सहयोगी बनाता है और तमाम लोगों के लिए अवसरों में समानता (Equality of Opportunities) जुटा कर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देता है जिनमें ये वर्ग स्वाभाविक तरीक़े से घुलते-मिलते और परिवर्तित होते रहते हैं।

इस्लामी अर्थव्यवस्था के मूल सिद्धान्त

ये तीन चीज़ें हैं जिनको आप ध्यान में रखें तब इस आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त अपने वास्तविक अर्थ के साथ आपकी समझ में आ सकेंगे। अब इस आर्थिक व्यवस्था के जो बड़े-बड़े सिद्धान्त हैं वे मैं संक्षेप में आपके सामने रखता हूँ।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का सीमित अधिकार

इस्लाम कुछ विशेष सीमाओं के अन्दर व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्वीकृति देता है और व्यक्तिगत सम्पत्ति के मामले में वह पैदावार के साधनों (Means of Production) और उपभोग्य वस्तुओं (Consumer Goods) के बीच या मेहनत से कमाई हुई आमदनी (Earned Income) और मेहनत के बग़ैर कमाई हुई आमदनी (Unearned Income) के बीच अन्तर नहीं करता। वह मनुष्य को सम्पत्ति का आम अधिकार प्रदान करता है परन्तु उसको कुछ सीमाओं से मर्यादित कर देता है। इस्लाम में यह धारणा नहीं है कि पैदावार के साधनों और उपभोग्य वस्तुओं में अन्तर करके पैदावार के साधनों को व्यक्तिगत सम्पत्ति से अलग कर दिया जाए और केवल उपभोग्य वस्तुओं की हद तक उसको सीमित कर दिया जाए। इस्लामी दृष्टि से एक व्यक्ति जिस प्रकार कपड़े, बर्तन और घर का फ़र्नीचर रखने का अधिकारी है, उसी तरह वह ज़मीन, मशीन और कारख़ाने रखने का भी अधिकार रखता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति जिस तरह स्वयं अपनी मेहनत से कमाई हुई दौलत का जायज़ मालिक हो सकता है, उसी तरह वह अपने बाप या माँ या पत्नी या

पति की छोड़ी हुई दौलत का भी मालिक हो सकता है और वह भागीदारी के सिद्धान्त पर एक ऐसी कमाई में भागीदार भी बन सकता है जो उसके दिए हुए धन पर काम करके एक-दूसरे व्यक्ति ने अपनी मेहनत से हासिल की हो। इस्लाम एक तरह के सम्पत्ति अधिकार और दूसरी तरह के सम्पत्ति अधिकार के बीच इस रूप से अन्तर नहीं करता कि यह पैदावार के साधनों से सम्बन्धित है या उपभोग्य वस्तुओं से या यह मेहनत से कमाई हुई दौलत है या मेहनत के बग़ैर कमाई हुई दौलत। बल्कि वह इस लिहाज़ से अन्तर करता है कि यह वैध साधनों से आई है या अवैध साधनों से, और इसका प्रयोग आप सही तरीक़े से करते हैं या ग़लत तरीक़े से। इस्लाम में पूरे आर्थिक जीवन का नक़्शा इस ढंग पर बनाया गया है कि मनुष्य कुछ हदों के अन्दर अपनी रोज़ी कमाने के लिए स्वतंत्र है। अभी मैं आपको बता चुका हूँ कि इस्लाम की दृष्टि में मनुष्य की स्वतंत्रता असाधारण महत्व रखती है और इस स्वतंत्रता पर ही वह मनुष्यता की उन्नति एवं विकास की पूरी इमारत निर्मित करता है। रोज़ी कमाने के साधनों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का हक़ देना इनसान की आज़ादी की रक्षा के लिए ज़रूरी है। अगर व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार उससे छीन लिया जाए और कमाई के समस्त साधनों पर सामूहिक स्वामित्व क़ायम कर दिया जाए तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता अनिवार्यतः समाप्त हो जाती है। क्योंकि इसके बाद तो समाज के सारे लोग उस संस्थान के नौकर बन जाते हैं, जिसके हाथ में पूरे राज्य के रोज़गार के साधनों का कन्ट्रोल हो।

समान वितरण के बजाय धन का न्यायसंगत वितरण

इस्लामी अर्थव्यवस्था का एक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वह धन के समान (Equal) वितरण के बजाय न्यायसंगत (Equitable) वितरण चाहता है। उसके सामने यह बात बिल्कुल नहीं है कि सारे इनसानों के बीच जीवन-साधनों को समान रूप से वितरित किया जाए। क़ुरआन मजीद को जो व्यक्ति भी पढ़ेगा उसको स्पष्ट रूप से मालूम हो जाएगा कि अल्लाह के इस जगत में कहीं भी समान रूप से वितरण नहीं पाया जाता—समान वितरण तो है ही अप्राकृतिक चीज़—ज़रा विचार तो करें, क्या सारे मनुष्यों

की स्मरण शक्ति बराबर है? क्या सारे मनुष्य सौंदर्य में, शक्ति में, योग्यता में बराबर हैं? क्या सारे मनुष्य जन्म की एक ही तरह की परिस्थितियों में आँखें खोलते हैं और दुनिया में काम करने के लिए भी सबको एक ही तरह की परिस्थितियाँ मिलती हैं? अगर इन सारी चीज़ों में बराबरी नहीं है तो पैदावार के साधनों या धन के वितरण में समानता का क्या अर्थ। यह चीज़ व्यावहारिक रूप से सम्भव ही नहीं है और जहाँ भी कृत्रिम रूप से इसकी कोशिश की जाएगी तो वह अनिवार्यतः असफल होगी और इसके ग़लत परिणाम सामने आएँगे। इसी लिए इस्लाम यह नहीं कहता कि आर्थिक साधनों और आर्थिक लाभों को बराबर-बराबर वितरित होना चाहिए, बल्कि वह कहता है कि इन चीज़ों का वितरण न्यायसंगत रूप से होना चाहिए और इस न्याय के लिए वह कुछ नियम निर्धारित करता है।

कमाई के साधनों में वैध और अवैध का अन्तर

इन नियमों में से सर्वप्रथम नियम यह है कि धन प्राप्त करने के साधनों में इस्लाम ने हराम और हलाल का अन्तर रखा है। एक तरफ़ वह व्यक्ति को यह अधिकार देता है कि वह स्वतंत्र ढंग से प्रयास करके अपनी रोज़ी हासिल करे। इस तरह वह जो कुछ कमाए वह उसकी सम्पत्ति है। दूसरी तरफ़ प्रयास करने के तरीक़ों में उसने हराम और हलाल की सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। इस्लामी व्यवस्था की दृष्टि से एक व्यक्ति वैध-साधनों से अपनी रोज़ी कमाने में पूरी तरह स्वतंत्र है, जिस तरह चाहे और जितना चाहे कमाए। उस कमाए हुए माल का वह जायज़ मालिक है। कोई उसकी जायज़ सम्पत्ति को सीमित करने का या उससे छीन लेने का अधिकार नहीं रखता। परन्तु अवैध साधनों से एक दाना प्राप्त करने का भी वह हक़ नहीं रखता। इस कमाई से रुक जाने के लिए उसे बाध्य किया जाएगा। ऐसी कमाई से हासिल की हुई दौलत का वह जायज़ मालिक नहीं है। उसके अपराध के आकार-प्रकार को देखते हुए उसको क़ैद और जुर्माने की सज़ा दी जाएगी तथा उसका माल भी ज़ब्त किया जा सकता है और अपराध करने से उसे रोकने के लिए उपाय भी अपनाए जाएँगे।

जिन साधनों को इस्लाम ने अवैध बताया है वे ये हैं : ख़ियानत, रिश्वत, अपहरण करना, बैतुलमाल (ख़ज़ाना) में ग़बन, चोरी, नाप-तौल में कमी, अश्लीलता फैलानेवाले कारोबार, वेश्यावृत्ति (Prostitution) शराब और अन्य नशीली चीज़ों का उत्पादन और व्यापार, ब्याज, जुआ, सट्टा और क्रय-विक्रय के वे सभी ढँग जो धोखे या दबाव पर आधारित हों या जिनसे झगड़े और फ़साद पैदा होते हों या जो न्याय और लोकहित के विरुद्ध हों। इन सभी साधनों पर इस्लाम क़ानूनी प्रतिबन्ध लगा देता है। इनके अलावा वह जमाख़ोरी (Hoarding) को निषेध घोषित करता है और ऐसी ठेकेदारियों को रोक देता है जो किसी उचित कारण के बिना धन और उसको हासिल करने के साधनों से आम लोगों को लाभान्वित होने के अवसरों से वंचित कर देती हों।

इन तरीक़ों को छोड़कर आदमी वैध साधनों से जो धन भी कमाएगा वह उसकी हलाल कमाई होगी। उस हलाल कमाई से वह स्वयं भी फ़ायदा उठा सकता है और उपहार या भेंट द्वारा दूसरों की तरफ़ स्थानांतरित भी कर सकता है। वह उसे और अधिक धन कमाने के लिए भी इस्तेमाल कर सकता है और अपने वारिसों के लिए मीरास भी छोड़ सकता है। इस वैध कमाई पर कोई पाबन्दी ऐसी नहीं है जो उसे किसी हद पर जाकर और अधिक कमाने से रोक देती हो। एक व्यक्ति हलाल कमाई से करोड़पति बन सकता हो तो इस्लाम उसके रास्ते में रुकावट नहीं बनता। आदमी आर्थिक क्षेत्र में जितनी उन्नति भी चाहे करे, मगर वैध साधनों से करे। यद्यपि वैध साधनों से करोड़पति बनना आसान काम नहीं है। किसी पर अल्लाह की असाधारण कृपा हो जाए तो हो जाए वरना वैध साधनों से करोड़पति बन जाने की सम्भावना कम ही होती है। लेकिन इस्लाम किसी को बाँध कर नहीं रखता, वैध साधनों से वह जितना चाहे कमाए, उसके रास्ते में कोई रुकावट नहीं है। क्योंकि अनुचित रुकावटों और पाबन्दियों से मनुष्य के लिए मेहनत करने की कोई प्रेरक चीज़ (Incentive) बाक़ी नहीं रहती।

धन-प्रयोग के तरीक़ों में वैध और अवैध का अन्तर

इसके बाद जो धन आदमी को प्राप्त होता है उसके इस्तेमाल पर फिर पाबन्दियाँ लगा दी गई हैं।

इसके इस्तेमाल की एक सूरत यह है कि आदमी उसे अपने ऊपर ख़र्च करे। इस ख़र्च पर इस्लाम ऐसी पाबन्दियाँ लागू करता है, जिनसे वह आदमी के अपने नैतिक स्वभाव और समाज के लिए किसी प्रकार हानिकारक सिद्ध न हो सके। वह शराब नहीं पी सकता, व्यभिचार नहीं कर सकता, जुएबाज़ी में अपनी दौलत नहीं उड़ा सकता, वह भोग-विलास की कोई ऐसी सूरत नहीं अपना सकता, जो नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध हो। वह सोने और चाँदी के बर्तन प्रयोग में नहीं ला सकता, यहाँ तक कि अगर वह रहन-सहन में बहुत ज़्यादा शान-शौकत दिखाए तो उसपर भी पाबन्दी लगाई जा सकती है।

दूसरी सूरत यह है कि आदमी आमदनी का थोड़ा-बहुत हिस्सा बचा ले और उसे रोके रहे तो इस्लाम इसको पसन्द नहीं करता। वह चाहता है कि जो धन भी किसी के पास बच गया है वह रुककर न रह जाए, बल्कि जायज़ तरीक़े से गतिशील रहे। रुके हुए धन पर इस्लाम एक विशेष नियम के अनुसार ज़कात देनी अनिवार्य ठहराता है, ताकि इसका एक भाग अनिवार्यतः वंचित वर्गों और सार्वजनिक सेवाओं में इस्तेमाल हो सके। आप क़ुरआन मजीद में देखेंगे कि जिन बातों को उसमें उत्यन्त निन्दित ठहराया गया है, उनमें से एक यह है कि मनुष्य ख़ज़ाने जमा करने की कोशिश करे। क़ुरआन कहता है कि जो लोग सोने और चाँदी के भण्डार जमा करते हैं, उनका जमा किया हुआ सोना-चाँदी नरक में उनको दाग़ने के काम में लाया जाएगा। इसका कारण यह है क़ि अल्लाह ने धन को मानवज़ाति के फ़ायदे के लिए पैदा किया है। उसे रोककर रख लेने का अधिकार किसी को नहीं। आप वैध साधनों से कमाइए और अपनी आवश्यकताओं पर ख़र्च कीजिए और जो कुछ बचे उसे किसी न किसी जायज़ तरीक़े से गतिशील रखिए।

इसी लिए इस्लाम जमाख़ोरी को भी मना करता है। जमाख़ोरी का अर्थ यह है कि आप आवश्यकता की चीज़ों को जान-बूझकर इसलिए रोककर रखें

ताकि बाज़ार में उनकी पूर्ति कम हो और मूल्य चढ़ जाएँ। यह काम इस्लामी क़ानून में हराम है। आदमी को सीधी तरह व्यापार करना चाहिए। अगर आपके पास कोई माल बेचने के लिए मौजूद है और बाज़ार में उसकी माँग है तो इसका कोई उचित कारण नहीं कि आप उसे बेचने से इनकार करें। जान-बूझकर आवश्यकताओं की चीज़ों की कमी पैदा करने के लिए बेचने से इनकार कर देना आदमी को व्यापारी के बजाए लुटेरा बना देता है।

इसी कारण इस्लाम अनुचित प्रकार के एकाधिकार का भी विरोधी है, क्योंकि वे आम लोगों को आर्थिक साधनों से लाभान्वित होने में रुकावट बनती हैं। इस्लाम इसको जायज़ नहीं रखता कि रोज़ी कमाने के कुछ अवसर और साधन कुछ विशेष व्यक्तियों, परिवारों के लिए ख़ास कर दिए जाएँ, और अगर दूसरे लोग इस मैदान में आना चाहें तो उनके रास्ते में रुकावट डाल दी जाए। एकाधिकार अगर किसी तरह का जायज़ है तो केवल वह जो सामूहिक हितों के लिए अवश्यंभावी हो, वरना सैद्धान्तिक रूप से इस्लाम यह चाहता है कि कोशिशों का मैदान सबके लिए खुला रहे और प्रत्येक व्यक्ति को उसमें हाथ-पाँव मारने के अवसर उपलब्ध रहें।

बचे हुए धन को अगर कोई व्यक्ति और अधिक धन कमाने में लगाना चाहे तो यह केवल उन तरीक़ों से लगाया जा सकता है जो रोज़ी कमाने के लिए इस्लाम में हलाल बतलाए गए हैं। हराम तरीक़े जिनका मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, इस उद्देश्य के लिए अपनाए नहीं जा सकते।

लोगों के माल में समाज का हक़

इस्लाम व्यक्तिगत माल में समाज के हक़ ठहराता है और इसे वह विभिन्न तरीक़ों से लागू करता है। क़ुरआन में आप देखेंगे कि रिश्तेदारों के हक़ बयान किए गए हैं, इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति की कमाई पर उसके अपने स्वयं के अलावा उसके रिश्तेदारों का भी हक़ है। समाज के एक-एक व्यक्ति कि यह ज़िम्मेदारी है कि अगर वह अपनी आवश्यकता से अधिक धन रखता है और उसके अपने रिश्तेदारों में ऐसे लोग हैं जिन्हें आवश्यकता से कम माल मिला हुआ है, तो वह अपने सामर्थ्य के अनुसार

उनकी सहायता करे। अगर किसी क़ौम में प्रत्येक परिवार के लोग अपने इस कर्तव्य को महसूस करने लगें तो सामूहिक दृष्टि से अधिकतर परिवारों को सम्भालने का प्रबन्ध हो सकता है और ऐसे परिवार बहुत कम ही बचेंगे जो बाहरी सहायता के मुहताज हों। इसलिए आप देखेंगे कि क़ुरआन बन्दों के हक़ में सबसे पहले माँ-बाप और रिश्तेदारों के हक़ का उल्लेख करता है।

इसी प्रकार क़ुरआन मनुष्य के माल पर उसके पड़ोसियों का हक़ भी बाताता है। इसका मतलब यह है कि हर मुहल्ले और हर गली और हर कूचे में जो लोग अपेक्षाकृत खुशहाल हों वे उन लोगों को सम्भालें जो उसी मुहल्ले-गली और कूचे में बदहाल हों और सहायता के योग्य पाए जाते हों।

इन ज़िम्मेदारियों के बाद खाते-पीते आदमी पर यह ज़िम्मेदारी भी डालता है कि वह अपने सामर्थ्य के अनुसार हर उस व्यक्ति की सहायता करे जो सहायता माँगे या सहायता का मुहताज हो।

> "लोगों के मालों में हक़ है माँगनेवाले का और न माँगनेवाले वंचित व्यक्ति का।" (क़ुरआन, सूरा-51 ज़ारियात, आयत-19)

माँगनेवाला वह है जो आपके पास मदद माँगने के लिए आता है। इससे अभिप्रेत ये पेशेवर भिखमँगे नहीं हैं, जिन्होंने भीख ही को रोज़ी का साधन बना रखा है। बल्कि इससे अभिप्रेत ऐसा व्यक्ति है जो वास्तव में ज़रूरतमन्द हो और आप से आकर निवेदन करे कि आप उसकी मदद करें। आप यह विश्वास अवश्य प्राप्त कर लें कि यह वास्तव में ज़रूरतमन्द है। लेकिन अगर मालूम हो जाए कि वह ज़रूरतमन्द है और आपके पास अपनी ज़रूरत से ज़्यादा रुपए भी हैं जिससे उसकी मदद करना आपके लिए सम्भव है तो फिर आपको जानना चाहिए कि आपके माल में उसका भी हक़ है। रहा वंचित व्यक्ति तो इससे मुराद वही व्यक्ति है जो आपके पास मदद माँगने के लिए तो नहीं आता, मगर आपको मालूम है कि वह अपनी रोज़ी पाने से या पूरी तरह पाने से वंचित रह गया है, यह व्यक्ति भी आपके माल में हक़दार है।

इन हक़ों के अलावा इस्लाम ने मुसलमानों को अल्लाह की राह में ख़र्च करने का सामान्य रूप से आदेश देकर पूरे समाज और राज्य का हक़ भी इन

मालों में क़ायम कर दिया है। इसका उद्देश्य यह है कि मुसलमान को एक दानशील, उदार हृदय, संवेदनशील और प्राणियों के प्रति सहानुभूति रखनेवाला होना चाहिए और उसे स्वार्थ की किसी भावना से नहीं, बल्कि केवल अल्लाह की ख़ुशी के लिए भलाई के प्रत्येक काम में, दीन और समाज की हर ज़रूरत को पूरा करने में खुले दिल से अपना धन ख़र्च करना चाहिए। यह एक प्रभावकारी नैतिक भाव है, जिसे इस्लाम अपनी शिक्षा-दीक्षा और प्रशिक्षण से और इस्लामी समाज के सामूहिक वातावरण से प्रत्येक मुस्लिम व्यक्ति में पैदा करता है, ताकि वह किसी दबाव के बग़ैर केवल अपने दिल की ख़ुशी से सामूहिक कल्याण में सहायक हो।

ज़कात

इस स्वेच्छा पर आधारित ख़र्च के बाद एक चीज़ और है जिसे इस्लाम में अनिवार्य कर दिया गया है और वह है ज़कात, जो जमा की हुई पूँजी पर, व्यावसायिक चीज़ों पर, कारोबार की विभिन्न सूरतों पर, कृषि की पैदावार और जानवरों पर इस उद्देश्य से लागू की जाती है कि उससे उन लोगों को सहारा दिया जाए जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गए हैं। इन दोनों प्रकार के दान की मिसाल ऐसी है जैसे एक नफ़्ल नमाज़ है और एक फ़र्ज़। नफ़्ल नमाज़ में आपको अधिकार है जितनी चाहें पढ़ें। जितनी अधिक आध्यात्मिक उन्नति आप करना चाहते हैं, जितना कुछ अल्लाह का सामीप्य प्राप्त करना चाहते हैं, उतनी ही नफ़्ल आप अपनी इच्छा से अदा कीजिए, लेकिन फ़र्ज़ नमाज़ आपको अनिवार्य रूप से पढ़नी ही होगी। ऐसा ही मामला अल्लाह की राह में ख़र्च करने का है कि एक प्रकार का ख़र्च नफ़्ल है जो आप अपनी ख़ुशी से करेंगे, दूसरे तरह का ख़र्च वह है जो आप पर फ़र्ज़ कर दिया गया है और वह आपको अनिवार्य रूप से करना होगा, जबकि आपकी पूँजी एक निश्चित सीमा से अधिक हो।

ज़कात और कर का अन्तर

ज़कात के सम्बन्ध में यह ग़लतफ़हमी आपके दिमाग़ में नहीं रहनी चाहिए कि यह कर है। वास्तव में यह कर नहीं है, बल्कि यह तो इबादत

है और नमाज़ की तरह इस्लाम का एक अंग है। ज़कात और कर में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। कर वह होता है जो ज़बरदस्ती किसी मनुष्य पर लागू किया जाता है, उसके लिए ज़रूरी नहीं है कि वह उसे ख़ुशी से स्वीकार करे। उसके लागू करनेवालों के प्रति आस्था किसी के दिल में नहीं होती। उनके सत्य होने पर कोई विश्वास नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति उनके डाले हुए इस भार को ज़बरदस्ती का बोझ समझता है और उसपर नाक-भौं चढ़ाता है। उससे बचने के लिए हज़ार बहाने करता है और उसको अदा न करने के उपाय निकालता है। कर किसी के ईमान में कोई अन्तर नहीं डालता। फिर इन दोनों में सैद्धान्तिक अन्तर यह है कि कर वास्तव में उन सेवाओं के ख़र्च पूरे करने के लिए लगाया जाता है, जिनका लाभ स्वयं करदाता को भी पहुँचता है। इसके पीछे बुनियादी धारणा यह होती है कि आप जन सुविधाओं की आवश्यकता महसूस करते हैं और चाहते हैं कि सरकार के द्वारा वे सुविधाएँ आपको प्राप्त हो जाएँ, उनके लिए आप अपनी पूँजी के अनुसार उचित चन्दा दें। यह कर वास्तव में एक प्रकार का चन्दा ही है जो क़ानूनी दबाव डालकर उन सामूहिक सेवाओं के लिए आपसे लिया जाता है जिनसे लाभान्वित होनेवालों में आप स्वयं भी शरीक हैं। इसके विपरीत ज़कात एक इबादत है। बिल्कुल उसी तरह जैसे नमाज़ एक इबादत है। कोई पार्लियामेंट या विधानसभा उसको लागू करनेवाली नहीं है, बल्कि इसे अल्लाह ने लागू किया है, जिसे प्रत्येक मुसलमान अपना सच्चा उपास्य मानता है। कोई व्यक्ति अगर अपने ईमान को बचाना चाहता है तो वह ज़कात से बचने या उसमें ख़ुर्द-बुर्द करने का साहस कभी नहीं कर सकता। इसके विपरीत अगर कोई बाहरी शक्ति उससे हिसाब लेने और ज़कात वसूल करनेवाली न भी हो तो एक मोमिन अपनी ज़कात का हिसाब स्वयं करके अपनी इच्छा से निकालेगा। फिर यह ज़कात सिरे से इस उद्देश्य के लिए है ही नहीं कि उन सामूहिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाए जिनसे लाभान्वित होने में आप स्वयं भी शामिल हैं, बल्कि यह केवल उन लोगों के लिए ख़ास की गई है जो किसी-न-किसी तरह से धन के वितरण में अपना हिस्सा पाने से या पूरा हिस्सा पाने से वंचित रह गए हैं और किसी वजह से सहायता के मुहताज हैं। चाहे स्थाई रूप से या अस्थाई रूप से। इस प्रकार

ज़कात अपनी वास्तविकता अपने मूल सिद्धान्तों और अपनी आत्मा और रूप की दृष्टि से कर से बिल्कुल एक भिन्न चीज़ है। यह आपके लिए सड़कें, रेलें और नहरें बनाने और देश का अनुशासन चलाने के लिए नहीं है बल्कि कुछ विशेष हक़दारों के हक़ अदा करने के लिए अल्लाह की ओर से एक इबादत के रूप में फ़र्ज़ की गई है। ज़कात इस्लाम के पाँच स्तम्भों में से एक स्तम्भ है और इसका अस्ल फ़ायदा अल्लाह की प्रसन्नता और आख़िरत का सवाब ही है।

कर लगाने का अधिकार

कुछ लोगों को यह ग़लतफ़हमी भी है कि इस्लाम में ज़कात और ख़िराज के अलावा कोई कर नहीं है, हालाँकि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने स्पष्ट रूप से फ़रमाया है कि, "लोगों के माल में ज़कात के अतिरिक्त भी एक हक़ है।" वास्तव में जिन करों को शरीअत में अनुचित बताया गया है वे क़ैसर और किसरा और उनके अधिकारी व्यक्तियों के लगाए हुए वे कर थे जिन्हें बादशाह और अधिकारी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति बना लिया जाता था और जिनकी आमदनी तथा ख़र्च का हिसाब देने के वे ज़िम्मेदार न थे। रहे वे कर जो शूरा (परामर्श) के तरीक़े पर चलने वाली सरकार लोगों की इच्छा और राय से लगाए, जिनकी आमदनी सार्वजनिक-कोष में जमा हो, जिनका ख़र्च भी लोगों के मशविरे से किया जाए और जिनका हिसाब देने की सरकार उत्तरदायी हो, तो ऐसे कर लागू करने पर शरीअत में कदापि कोई पाबन्दी नहीं है। अगर समाज में इस्लामी राज्य की स्थापना से पहले कोई अनुचित ऊँच-नीच पैदा हो चुकी हो या हराम तरीक़ों से कमाई हुई दौलत कुछ वर्गों में अनियंत्रित रूप से एकत्र कर ली हो, तो एक इस्लामी सरकार सम्पत्ति को ज़ब्त करने के बजाय कर लगाकर इस रोग का इलाज कर सकती है और अन्य इस्लामी क़ानूनों की मदद से धन के इस केन्द्रीकरण को समाप्त कर सकती है। सम्पत्ति को ज़ब्त करने का तरीक़ा इस्तेमाल करने के लिए अधिकारियों को ऐसे निरंकुश अधिकार देना अवश्यंभावी हो जाता है, जिन्हें पाकर वे किसी हद पर रोके नहीं जा सकते और एक ज़ुल्म की जगह उससे बड़ा ज़ुल्म स्थापित हो जाता है।

उत्तराधिकार का क़ानून

इसके अलावा इस्लाम ने उत्तराधिकार का एक क़ानून भी बना दिया है, जिसका उद्देश्य यह है कि एक व्यक्ति थोड़ा-बहुत जो कुछ भी छोड़कर मरे, उसे एक निश्चित नियमानुसार ज़्यादा से ज़्यादा व्यापक क्षेत्र में फैला दिया जाए। सबसे पहले माँ-बाप और बीवी-बच्चे इस दौलत के अधिकारी हैं, फिर भाई-बहन, फिर क़रीबी रिश्तेदार। अगर कोई व्यक्ति बिल्कुल ही लावारिस हो तो फिर पूरी क़ौम उसकी वारिस है। बैतुलमाल (राज्य कोष) में उसका रुपया दाख़िल कर दिया जाएगा।

इस्लामी अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ

ये हैं वे सिद्धान्त और सीमाएँ जो इस्लाम ने हमारे आर्थिक जीवन के लिए निर्धारित कर दी हैं। इन सीमाओं के अन्दर रहकर आप अपनी जो भी आर्थिक व्यवस्था बनाना चाहें, बना लें। हर ज़माने में अपनी आवश्यकता के अनुसार उसे विस्तृत रूप देना हमारा अपना काम है। हमें जिस चीज़ की पाबन्दी करनी होगी, वह यह है कि हम न तो पूँजीवादी व्यवस्था की तरह निरंकुश आर्थिक रास्ता अपना सकते हैं और न साम्यवाद की तरह पूरे आर्थिक साधनों को सामूहिक कन्ट्रोल में ले सकते हैं। हमें एक मर्यादित एवं नियंत्रित स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना होगा, जिसमें मनुष्य के नैतिक विकास का मार्ग खुला रहे, जिसमें इनसान को सामूहिक कल्याण की सेवा के लिए क़ानूनी तौर पर बाध्य करने की कम-से-कम आवश्यकता पड़े। जिसमें ग़लत तरीक़ों से प्रकृति और मानव स्वभाव के विपरीत विभिन्न वर्ग न पैदा किए जाएँ और स्वभावतः जिन वर्गों का जन्म समाज में होता है उनके बीच संघर्ष के बजाय सहयोग पैदा किया जाए। इस आर्थिक व्यवस्था में धन कमाने के वे सभी साधन अवैध होंगे, जिन्हें इस्लाम ने हराम घोषित किया है और वे सभी तरीक़े वैध होंगे जिन्हें इस्लाम जायज़ कहता है। वैध तरीक़ों से प्राप्त किए हुए धन पर स्वामित्व और उपभोग के वे सभी अधिकार स्वीकार किए जाएँगे जो इस्लाम ने दिए हैं। ज़कात अनिवार्य रूप से लागू की जाएगी और उन सभी व्यक्तियों को उसे अदा करना होगा जिनके पास

इतना माल हो जिस पर ज़कात वाजिब होती है। मीरास उसी के नियमानुसार बाँटी जाएगी और इन सीमाओं में रहकर लोगों के आर्थिक प्रयासों के लिए पूरी स्वतंत्रता दी जाएगी। कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बनाई जाएगी जो लोगों को कसकर रख दे और उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समाप्त कर दे। इस स्वतंत्र प्रयास में अगर लोग स्वयं न्याय और सत्य पर जमे रहें तो क़ानून अकारण हस्तक्षेप न करेगा, किन्तु अगर वे न्याय न करें या सीमाओं का उल्लंघन करने लगें या अनुचित प्रकार का एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश करें तो इन सूरतों में क़ानून उनकी बुनियादी आज़ादी को हड़प करने के लिए नहीं बल्कि उन्हें न्याय पर क़ायम रखने और सीमा-उल्लंघन को रोकने के लिए अवश्य ही हस्तक्षेप करेगा।

आर्थिक कारक और उनका अनुपात

यहाँ तक मैंने पहले सवाल के पहले हिस्से का जवाब दिया है। अब इसी सवाल के दूसरे हिस्से को लीजिए, जिसमें यह पूछा गया है कि इस रूप-रेखा में भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध का स्थान क्या है? इस बात को समझने के लिए मैं आपको मशविरा दूँगा कि इस्लामी विधिशास्त्र में मुज़ारअत (साझे में खेती करना) और मुज़ारबत (साझे में कारोबार करना) का जो क़ानून बयान किया गया है उसका अध्ययन करें। वर्तमान समय के अर्थशास्त्र में भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध को जिस प्रकार आर्थिक साधनों के रूप में बयान किया गया है, उस प्रकार हमारे पहले के विद्वानों के ग्रन्थों में बयान नहीं किया गया और न इस विषय पर अलग से किताबें ही लिखी गई हैं। हमारे यहाँ ऐसी सभी बातें फ़िक्ह (इस्लामी विधिशास्त्र) के विभिन्न अध्यायों में बयान की गई हैं और उनकी भाषा अर्थशास्त्र की वर्तमान परिभाषाओं से भिन्न है। लेकिन जो व्यक्ति भी परिभाषाओं का दास नहीं है बल्कि अर्थशास्त्र के वास्तविक विषय और समस्याओं की समझ रखता है वह आसानी से यह समझ सकता है कि इस फ़िक़्ही ज़ुबान में जो कुछ कहा गया है उसके अन्दर आर्थिक धारणाएँ क्या हैं? हमारी फ़िक्ह में 'मुज़ारअत' और 'मुज़ारबत' का जो क़ानून बयान किया गया है वह भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध के सम्बन्ध में इस्लामी चिन्तन प्रणाली को पूरी तरह स्पष्ट कर देता

है। मुज़ारअत यह है कि भूमि एक व्यक्ति की है और उसपर खेती दूसरा व्यक्ति करता है और ये दोनों उसके फ़ायदे में हिस्सेदार होते हैं। मुज़ारबत यह है कि एक व्यक्ति का रुपया है और दूसरा व्यक्ति उस रुपए से कारोबार करता है और ये दोनों उसके लाभ में हिस्सेदार हैं। कारोबार की इन सूरतों में जिस तरह इस्लाम ने भूमि और पूँजीवाले और उसपर काम करनेवाले के हक़ स्वीकार किए हैं उससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि इस्लाम की दृष्टि से भूमि भी एक आर्थिक साधन है और मनुष्य की मेहनत भी, पूँजी भी एक आर्थिक कारक है और उसपर इनसान की मेहनत और प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता भी। ये सब कारक लाभ में हिस्सेदारी का हक़ पैदा कर देते हैं। इस्लाम प्रारम्भिक रूप में इन विभिन्न कारकों के बीच हिस्सेदारी का निर्धारण जनसामान्य में प्रचलित रीति और दस्तूर पर छोड़ देता है ताकि अगर सामान्य रीति के अनुसार लोग स्वयं परस्पर न्याय कर रहे हों तो क़ानून हस्तक्षेप न करे। लेकिन अगर किसी मामले में न्याय न हो रहा हो तो अवश्य ही क़ानून का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इसमें न्याय की सीमाएँ निर्धारित करे। उदाहरणतः अगर मैं भूमि का स्वामी हूँ और एक व्यक्ति को अपनी ज़मीन बटाई पर देता हूँ या किसी व्यक्ति से मज़दूरी पर खेती का काम लेता हूँ या किसी को ठेके पर काम देता हूँ और उसके साथ मेरी शर्तें सामान्य रीति के अनुसार न्यायपूर्वक तय होती हैं तो क़ानून को हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन अगर मैं अन्याय करूँ तो क़ानून को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। क़ानून इसके लिए नियम निर्धारित कर सकता है कि मुज़ारअत इन सिद्धान्तों पर इन नियमों के अनुसार होनी चाहिए ताकि न ज़मीनवाले का हक़ मारा जाए और न मेहनत करनेवाले का हक़। इसी प्रकार कारोबार में पूँजी लगानेवालों और परिश्रम और प्रबन्ध करनेवालों के बीच भी जब तक न्यायसंगत रूप से स्वयं मामले तय हो रहे हों और कोई किसी का हक़ न मार रहा हो, न किसी पर ज़्यादती कर रहा हो तो क़ानून हस्तक्षेप नहीं करेगा। हाँ, जब इन मामलों में किसी तरह का अन्याय आ जाएगा तो इस स्थिति में न केवल यह कि क़ानून को हस्तक्षेप का हक़ है, बल्कि यह उसका कर्तव्य है कि उनके लिए ऐसे न्यायसंगत नियम नियत करे जिनके अनुसार

पूँजी, श्रम और प्रबन्ध सबके-सब कारोबार के लाभ में न्याय के साथ हिस्सेदार बन जाएँ।

दूसरे प्रश्न का उत्तर

अब दूसरे प्रश्न को लीजिए। पूछा गया है कि क्या ज़कात और सदक़े को आर्थिक कल्याण के लिए प्रयोग किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि ज़कात और सदक़ा तो है ही आर्थिक कल्याण के लिए। लेकिन इस बात को अच्छी तरह समझ लीजिए कि अगर आर्थिक विकास की कल्पना यह हो कि सामूहिक रूप से पूरे देश की आर्थिक उन्नति के लिए ज़कात को इस्तेमाल किया जाए तो यह जायज़ नहीं है जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि ज़कात वास्तव में इस उद्देश्य के लिए है कि समाज में कोई व्यक्ति अपनी अनिवार्य जीवन आवश्यकताओं—खाना, कपड़ा, मकान, इलाज और बच्चों की शिक्षा—से वंचित न रहने पाए और हम अपने समाज के उन सभी लोगों के लिए आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करें जो या तो अपनी रोज़ी के लिए प्रयास करने के योग्य ही न हों जैसे, यतीम, बच्चे, बूढ़े और अपंग लोग या वे लोग जो अस्थाई रूप से बेरोज़गार हो गए हों या उपयुक्त साधनों की कमी के कारण अपनी रोज़ी कमाने की कोशिश न कर सकते हों और कुछ सहायता पाकर अपने पाँवों पर खड़े हो सकें या किसी नुक़्सान के चक्कर में आ गए हों। ज़कात इस तरह के लोगों की सहायता के लिए है। आम आर्थिक उन्नति के लिए आपको दूसरे उपाय तलाश करने होंगे।

तीसरे प्रश्न का उत्तर

तीसरा प्रश्न यह किया गया है कि क्या हम ब्याज मुक्त आर्थिक व्यवस्था क़ायम कर सकते हैं? इसका जवाब यह है कि हम ऐसा अवश्य कर सकते हैं। पहले भी शताब्दियों तक ऐसी व्यवस्था क़ायम रही है। अगर आप आज भी इसे क़ायम करना चाहें और दूसरों की अन्धी पैरवी से निकल आएँ तो इसका क़ायम करना मुश्किल नहीं है। इस्लाम के आने से पहले दुनिया की आर्थिक व्यवस्था उसी प्रकार ब्याज पर चल रही थी जिस प्रकार आज चल रही है। इस्लाम ने उसे बदला और ब्याज को हराम (अवैध) घोषित कर

दिया। पहले वह अरब में हराम हुआ फिर जहाँ-जहाँ इस्लाम की हुकूमत होती गई वहाँ ब्याज वर्जित होता गया और पूरी आर्थिक व्यवस्था उसके बिना चलती रही। यह व्यवस्था शताब्दियों तक चलती रही है। अब कोई कारण नहीं कि वह न चल सके। अगर हमारे अन्दर इजतिहाद (क़ुरआन) और हदीस की रोशनी में ऐसे मसले मालूम करना जिनका स्पष्ट वर्णन उनमें मौजूद न हो) की शक्ति हो और हम ईमानी ताक़त भी रखते हों और हमारा यह इरादा भी हो कि जिस चीज़ को अल्लाह ने हराम किया है उसे समाप्त करें तो निश्चय ही आज भी हम उसे समाप्त करके सारे वित्तीय और आर्थिक मामले चला सकते हैं। मैं अपनी किताब 'सूद' (ब्याज) में स्पष्टतः बता चुका हूँ कि वास्तव में इसमें कोई बहुत बड़ी मुश्किल नहीं है। यह मसला बिल्कुल स्पष्ट है। पूँजी का यह हक़ नहीं है कि वह क़र्ज़ की शक्ल में आए और एक निश्चित लाभ प्राप्त करे, चाहे इस रुपए पर मेहनत करनेवालों और प्रबन्ध सम्बन्धी सेवा करनेवालों को लाभ प्राप्त हो या न हो। ब्याज में अस्ल ख़राबी यही है कि एक व्यक्ति या एक संस्थान अपनी पूँजी को उद्योग, व्यापार या कृषि को क़र्ज़ के रूप में देता है और देने से पहले अपना ख़ास मुनाफ़ा तय कर लेता है। उसको इस बात से कोई मतलब नहीं होता कि निश्चित अवधि के अन्दर उस कारोबार में नुक़्सान हो रहा है या फ़ायदा और फ़ायदा हो रहा हे तो कितना हो रहा है। वह तो साल के साल या महीने के महीने अपना निश्चित लाभ वसूल करता चला जाता है और मूल की वापसी का भी अधिकारी रहता है। इसी चीज़ को हमें ख़त्म करना है। दुनिया का कोई व्यक्ति इसे उचित सिद्ध नहीं कर सकता और इसे वैध और उचित ठहराने का कोई कारण पेश नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत इस्लाम जो सिद्धान्त पेश करता है वह यह है कि अगर आप ऋण देते हैं, तो ऋण की भांति दीजिए, सिर्फ़ अपना ऋण वापस लेने का आपको अधिकार है और अगर आप मुनाफ़ा हासिल करना चाहते हैं तो फिर सीधी तरह हिस्सेदार बनकर मामला कीजिए। अपना रुपया खेती में या व्यापार में या उद्योग में जिसमें भी आप लगाना चाहते हैं इस शर्त के साथ लगाइए कि उसमें जितना भी लाभ होगा वह एक ख़ास अनुपात से आपके और काम करनेवालों के

बीच बँट ज़ाएगा। यह इनसाफ़ का तक़ाज़ा भी है और इस तरह से आर्थिक जीवन भी फल-फूल सकता है। क्या कठिनाई है ब्याज के तरीक़े को समाप्त करके इस दूसरे तरीक़े को अपनाने में? जो रुपया अब क़र्ज़ के रूप में लगाया जाता है वह अब भागीदारी के सिद्धान्त पर लगाया जाए। हिसाब जिस प्रकार ब्याज का हो सकता है उसी प्रकार लाभ का हो सकता है। कोई ख़ास मुश्किल इसमें नहीं है। बात सिर्फ़ इतनी है कि हमारे अन्दर यह योग्यता नहीं है कि हम क़ुरआन और सुन्नत को सामने रखकर इस सम्बन्ध में रास्ता खोज सकें बल्कि हमें आँख बन्द करके पीछे चलने की आदत पड़ी हुई है। जो पहले से होता चला आ रहा है वही हम आँखें मूंद करते चलाए जाएँगे, क़ुरआन और सुन्नत को सामने रखकर कोई रास्ता तलाश करें, ऐसा हम नहीं करेंगे—मौलवी बेचारे को ताना दिया जाता है कि वह अन्धानुसरण करता है और किताब व सुन्नत की रोशनी में रास्ता नहीं निकालता, हालाँकि हम स्वयं अन्धे अनुयायी हैं और किताब व सुन्नत को सामने रखकर हल तलाश करने के लिए तैयार नहीं हैं। यह बीमारी अगर लगी हुई न होती तो अब तक यह समस्या हल हो चुकी होती।

आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का सम्बन्ध

आख़िरी प्रश्न यह है कि इस्लाम की दृष्टि में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इसका जवाब यह है कि इनमें वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि जड़ से तने का और तने से शाखाओं का और शाखाओं से पत्तों का होता है। एक ही व्यवस्था है जो अल्लाह की तौहीद (एकेश्वरवाद) और रसूलों की रिसालत पर विश्वास से पैदा होती है। इसी से नैतिक व्यवस्था बनती है। इसी से इबादतों की व्यवस्था बनती है। इसी से सामाजिक व्यवस्था निकलती है। इसी से आर्थिक व्यवस्था का जन्म होता है। इसी से राजनैतिक व्यवस्था का आविर्भाव भी। ये सारी चीज़ें एक-दूसरे के साथ अनिवार्य हैं। अगर आप अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान रखते हैं और क़ुरआन को अल्लाह की किताब मानते हैं तो आपको अनिवार्यतः उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों को अपनाना पड़ेगा, जिनकी शिक्षा इस्लाम ने आपको दी है और राजनीति के वही

सिद्धान्त अपनाने पड़ेंगे जो इस्लाम ने आपको दिए हैं। उसी के सिद्धान्तों पर आपको अपने समाज का निर्माण करना होगा और उसी के सिद्धान्तों पर अपने आर्थिक जीवन का सारा कारोबार चलाना होगा। जिस अक़ीदे की वजह से आप नमाज़ पढ़ते हैं उसी अक़ीदे की वजह से आपको व्यापार करना पड़ेगा। जिस दीन की नियमावली आपके रोज़े और हज को व्यवस्थित करती है उसी दीन के नियमों का पालन आपको अपनी अदालत में भी करना होगा और अपनी मन्डी में भी। इस्लाम में धार्मिक व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही व्यवस्था के विभिन्न विभाग और अंश हैं जो एक-दूसरे के साथ जुड़े भी होते हैं और एक दूसरे से ताक़त भी हासिल करते हैं। अगर तौहीद (एकेश्वरवाद) रिसालत और आख़िरत का अक़ीदा मौजूद न हो और इससे पैदा होनेवाले नैतिक मापदण्ड मौजूद न हों तो इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था कभी स्थापित नहीं हो सकती और स्थापित की भी जाए तो चल नहीं सकती। इसी प्रकार इस्लाम की राजनैतिक व्यवस्था भी न स्थापित हो सकती है न चल सकती है अगर अल्लाह, रसूल और आख़िरत पर अक़ीदा और क़ुरआन पर ईमान न हो, क्योंकि इस्लाम जो राजनैतिक व्यवस्था देता है उसका आधार ही इस विश्वास पर है कि अल्लाह सर्वोच्च शासक है, रसूल (सल्ल॰) उसके प्रतिनिधि हैं, क़ुरआन उसका आदेश है, जिसका पालन अनिवार्य है और हमको आख़िरकार अपने कर्मों का हिसाब अल्लाह को देना है। अतः यह विचार ही सिरे से ग़लत है कि इस्लाम में कोई राजनैतिक या आर्थिक व्यवस्था धार्मिक और नैतिक व्यवस्था से अलग और असम्बद्ध भी हो सकती है। जो व्यक्ति इस्लाम को जानता हो और जानकर उसे मानता हो वह कभी इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकता कि मुसलमान होते हुए उसकी राजनीति और अर्थनीति या उसकी ज़िन्दगी का कोई भाग उसके दीन से जुदा हो सकता है, या राजनीति और अर्थनीति, अदालत और क़ानून में इस्लाम से मुक्त होकर या इस्लाम के अलावा कोई दूसरी प्रणाली अपनाकर सिर्फ़ 'धार्मिक' मामलों में उसकी पैरवी करने का नाम भी इस्लामी ज़िन्दगी है।

अध्याय-5

आर्थिक जीवन के कुछ आधारभूत सिद्धान्त
(क़ुरआन की रौशनी में)

1. इस्लामी समाज के बुनियादी मूल्य

"अल्लाह न्याय और उपकार करने और रिश्ते जोड़ने का आदेश देता है और अश्लीलता और बुराई और ज़ुल्म व ज़्यादती (उद्दण्डता) से मना करता है। वह तुम्हें उपदेश देता है ताकि तुम शिक्षा लो।"

(क़ुरआन, सूरा-16 नह्ल, आयत-90)

इस संक्षिप्त वाक्य में तीन ऐसी चीज़ों का आदेश दिया गया है जिनपर पूरे मानव-समाज के ठीक होने का आश्रय है—

पहली चीज़ न्याय है जिसकी अवधारणा दो स्थाई सच्चाइयों से मिश्रित है। एक यह कि लोगों के पारस्परिक अधिकारों में सन्तुलन एवं साम्य स्थापित हो, दूसरे यह कि हर एक को उसका अधिकार बेलाग तरीक़े से दिया जाए। न्याय जिस चीज़ की मांग करता है वह सन्तुलन एवं साम्य है न कि समानता कुछ पहलुओं से तो न्याय निस्सन्देह समाज के लोगों में समानता चाहता है जैसे नागरिकता सम्बन्धी अधिकार मगर कुछ पहलुओं में समानता न्याय के प्रतिकूल है जैसे माता-पिता तथा सन्तान के बीच सामाजिक तथा नैतिक समानता और उच्च श्रेणी तथा निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के बीच वेतन की समानता। अतः अल्लाह ने जिस चीज़ का हुक्म दिया है वह अधिकारों में समानता नहीं बल्कि अनुपात और सन्तुलन है और इस आदेश का अभिप्राय यह है कि हर व्यक्ति को उसके नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, क़ानूनी, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक अधिकार पूर्ण निष्ठा से प्रदान किए जाएँ।

दूसरी चीज़ एहसान या उपकार है जिससे तात्पर्य सद्व्यवहार, उदारता, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, सच्चरित्रता, क्षमाशीलता, आपसी रियायतें, एक-दूसरे

का ध्यान, दूसरे को उसके हक़ से अधिक देना और स्वयं अपने हक़ से कुछ क़म पर राज़ी हो जाना। एहसान न्याय से आगे की स्थिति है जिसका महत्व सामाजिक जीवन में न्याय से भी अधिक है। न्याय अगर समाज की बुनियाद है तो एहसान उसकी सुन्दरता है और उसका शिखर है। न्याय अगर समाज को दुर्भावना और कड़वाहटों से बचाता है तो एहसान प्रफुल्लता और मिठास पैदा करता है। कोई समाज केवल इस आधार पर खड़ा नहीं रह सकता कि उसका हर व्यक्ति हर समय नाप-तौल कर देखता रहे कि उसका क्या हक़ है और उसे वसूल करके छोड़े और दूसरे का जितना हक़ है केवल उतना उसे दे दे। ऐसे ठण्डे और खुर्रे समाज में संघर्ष तो न होगा, मगर प्रेम-भाव, कृतज्ञता, उदारता, त्याग, निष्ठा और हमदर्दी जैसे गुणों से वह वंचित रहेगा।

तीसरी चीज़ जिसका इस आयत में आदेश दिया गया है वह है रिश्तों का जोड़ना, जो रिश्तेदारों के मामले में सद्व्यवहार का एक विशेष रूप निश्चित कर देता है। इसका अर्थ केवल यही नहीं है कि आदमी अपने रिश्तेदारों के साथ सद्व्यवहार करे, बल्कि इसका अर्थ यह भी है कि हर समर्थ व्यक्ति अपने धन पर केवल अपना स्वयं का तथा अपनी सन्तान ही का हक़ न समझे बल्कि अपने सम्बन्धियों के हक़ को भी स्वीकार करे। इस्लाम हर कुटुम्ब के सम्पन्न व्यक्तियों का यह उत्तरदायित्व घोषित करता है कि वे अपने कुटुम्ब के लोगों को भूखा-नंगा न छोड़ें। उसकी दृष्टि में एक समाज की इससे निम्न कोई स्थिति नहीं है कि उसमें एक व्यक्ति मौज कर रहा हो और उसी के ख़ानदान में उसके अपने बन्धुगण रोटी-कपड़े तक के मुहताज हों। वह ख़ानदान को समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई घोषित करता है और यह सिद्धान्त प्रस्तुत करता है कि प्रत्येक ख़ानदान के ग़रीब लोगों का पहला हक़ अपने ख़ानदान के सम्पन्न लोगों पर है, फिर दूसरों पर उनके अधिकार आते हैं। यही बात है जिसका हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि आदमी के पहले हक़दार उसके माता-पिता उसकी पत्नी व सन्तान और उसके भाई-बहन हैं, फिर वह जो उनके बाद निकटवर्ती हों। इस प्रकार यदि समाज की हर इकाई अपने-अपने लोगों को सम्भाल ले तो उस समाज में आर्थिक रूप से कितनी सम्पन्नता आ जाएगी और

सामाजिक रूप से कितनी मिठास होगी और नैतिक हैसियत से कितनी पवित्रता एवं उच्चता होगी, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

ऊपर की तीन भलाइयों की तुलना में अल्लाह तीन बुराइयों से रोकता है—

पहली चीज़ अश्लीलता है जिसमें सभी असभ्य एवं निर्लज्ज कर्म आ जाते हैं। हर वह बुराई जो अपने में गन्दी हो 'अश्लीलता' है जैसे कन्जूसी, व्यभिचार, नंगापन, समलैंगिकता जिन स्त्रियों से विवाह वर्जित है उनसे विवाह करना, चोरी करना, शराब पीना, भीख माँगना, गालियाँ बकना, असभ्यता करना आदि। इसी तरह खुलेआम बुरे काम करना और बुराइयों का प्रचार करना भी अश्लीलता में आता है जैसे—झूठा प्रोपेगंडा करना, दोषारोपण करना, किसी के छुपे हुए अवगुणों का प्रचार करना, व्यभिचार पर उभारनेवाले नाटक कहानियाँ फिल्में, नंगे चित्र, स्त्रियों का बन-ठनकर लोगों के सामने आना, स्त्रियों और पुरुषों का बेरोक-टोक मेल-मिलाप, नाचना थिरकना आदि।

दूसरी चीज़ मुन्कर (बुराई) है जिससे तात्पर्य हर वह बुराई है जिसे लोग समान्यतः बुरा जानते हैं और सदा बुरा कहते रहे और सभी ईश्वरीय आदेशों में जिनको मना किया गया है।

तीसरी चीज़ 'उद्दण्डता' है जिसका यहाँ अर्थ है अपनी सीमा लाँघ जाना, दूसरों के अधिकारों पर हाथ डाल देना, चाहे वे अधिकार ईश्वर के हों या उसके बन्दों अर्थात् इनसानों के हों।

ये वे बुनियादी मूल्य हैं जिनपर इस्लामी समाज स्थापित होता है और जिनकी रक्षा की ज़िम्मेदारी व्यक्ति एवं हुकूमत दोनों पर है।

2. नैतिक तथा आर्थिक उन्नति का मार्ग

> "अतः (ऐ मोमिन!) रिश्तेदार को उसका हक़ दे और निर्धन और मुसाफ़िर को (उसका हक़)। यह तरीक़ा बेहतर है उन लोगों के लिए जो अल्लाह की खुशी चाहते हों, और वही सफलता पानेवाले हैं।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-38)

इस आयत में यह नहीं कहा गया कि रिश्तेदार, निर्धन और मुसाफ़िर को दान दे। कहा यह गया है कि यह उसका अधिकार है जो तुझे देना चाहिए और अधिकार ही समझकर तू उसे दे। उसको देते हुए यह विचार तेरे दिल में न आने पाए कि यह कोई उपकार है जो तू उसपर कर रहा है, बल्कि यह बात अच्छी तरह तेरे मन में बैठी रहे कि माल के वास्तविक स्वामी ने अगर तुझे ज़्यादा दिया है और दूसरे बन्दों को कम अता फ़रमाया है तो यह ज़्यादा माल उन दूसरों का अधिकार है जो तेरी परीक्षा के लिए तेरे हाथ में दे दिया गया है, ताकि तेरा मालिक देखे कि तू उनका हक़ पहचानता और पहुँचाता है या नहीं। अल्लाह के इस आदेश और उसमें निहित ध्येय पर जो आदमी भी विचार करेगा, वह यह महसूस किए बिना नहीं रह सकता कि क़ुरआन मजीद इनसान के लिए नैतिक और आध्यात्मिक विकास का जो रास्ता प्रस्तावित करता है, उसके लिए एक स्वतंत्र समाज और स्वतंत्र अर्थव्यवस्था का विद्यमान होना ज़रूरी है।

3. आजीविका तथा व्यय की अवधारणा

> (1) "और निगाह उठाकर भी न देखो दुनियावी ज़िन्दगी की उस शान व शौकत को जो हमने इनमें से विभिन्न प्रकार के लोगों को दे रखी है। वह तो हमने उन्हें परीक्षा में डालने के लिए दी है, और तेरे रब की दी हुई हलाल रोज़ी ही बेहतर और बाक़ी रहनेवाली है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-20 ता-हा, आयत-131)

मूल अरबी शब्द 'रिज़्क़' का अनुवाद हमने 'हलाल रोज़ी' किया है, क्योंकि अल्लाह ने कहीं भी हराम माल को 'रब का रिज़्क़' नहीं कहा है। अर्थ यह है कि तुम्हारा और तुम्हारे ईमानवाले साथियों का यह काम नहीं है कि ये अवज्ञाकारी दुष्कर्मी अवैध तरीक़ों से धन समेट-समेटकर अपनी ज़िन्दगी में जो प्रत्यक्ष चमक-दमक पैदा कर लेते हैं उसको ललचाई दृष्टि से देखो। जो पवित्र आजीविका तुम अपने परिश्रम से कमाते हो, वह चाहे कितनी ही थोड़ी हो, सच्चे और ईमानदार लोगों के लिए वही बेहतर है और इसी में वह भलाई है जो दुनिया से आख़िरत तक शेष रहनेवाली है।

"अफ़सोस हम भूल गए थे कि अल्लाह अपने बन्दों में से जिसकी रोज़ी चाहता है बढ़ा देता है और जिसे चाहता है नपा-तुला देता है।" (क़ुरआन, सूरा-28 क़सस, आयत-82)

अर्थात् अल्लाह की ओर से रोज़ी का फैलाव और तंगी जो कुछ भी होती है, उसके मंशा के आधार पर होती है और इस मंशा में उसकी कुछ दूसरी ही मसलहतें काम करती होती हैं। किसी को ज़्यादा रोज़ी देने का अर्थ अनिवार्य रूप से यही नहीं है कि अल्लाह उससे अति प्रसन्न है और उसे इनाम दे रहा है। कभी-कभी एक आदमी अल्लाह का अत्यन्त अप्रिय होता है, मगर वह उसे बड़ी दौलत देता चला जाता है, यहाँ तक कि आख़िरकार यही दौलत उसके ऊपर अल्लाह का भारी प्रकोप ले आती है। इसके विपरीत अगर किसी की रोज़ी तंग है तो इसका अर्थ अनिवार्य रूप से यही नहीं है कि अल्लाह उससे रुष्ट है और उसे सज़ा दे रहा है। प्रायः नेक लोगों पर तंगी इसके बावजूद रहती है कि वे अल्लाह के प्रिय होते हैं, बल्कि कई बार यही तंगी उनके लिए अल्लाह की रहमत होती है। इस सच्चाई को न समझने ही का नतीजा यह होता है कि आदमी उन लोगों की समृद्धि को ललचाई दृष्टि से देखता है जो वास्तव में अल्लाह के प्रकोप के अधिकारी होते हैं।

(2) "जिनका हाल यह है कि अल्लाह का ज़िक्र सुनते हैं तो उनके दिल काँप उठते हैं, जो मुसीबत भी उनपर आती है उसपर सब्र करते हैं, नमाज़ क़ायम करते हैं और जो कुछ रोज़ी (आजीविका) हमने उनको दी है उसमें से ख़र्च करते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-22 हज, आयत-35)

अर्थात् जो पाक रोज़ी हमने उन्हें दी है, उसमें से वे ख़र्च करते हैं। ख़र्च से तात्पर्य हर तरह का ख़र्च नहीं है, बल्कि अपनी और अपने घरवालों की उचित ज़रूरतें पूरी करना, रिश्तेदारों, पड़ोसियों और ज़रूरतमन्दों की मदद करना, जनहित के कामों में हिस्सा लेना और सत्य-मार्ग के प्रचार में माल की क़ुरबानी देना अभिप्रेत है।

4. व्यय के सिद्धान्त

"खाओ उन चीज़ों में से, जो अल्लाह ने तुम्हें दी हैं और शैतान का

अनुपालन न करो कि वह तुम्हारा खुला शत्रु है।"

(क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-142)

यहाँ अल्लाह तीन बातें मन में बिठाना चाहता है। एक यह कि ये बाग़ और खेत और ये जानवर जो तुमको प्राप्त हैं, ये सब अल्लाह के दिए हुए हैं, किसी दूसरे का इस देन में कोई हिस्सा नहीं है। इसलिए देन के शुक्रिए में भी किसी का कोई हिस्सा नहीं हो सकता। दूसरे यह कि जब ये चीज़ें अल्लाह की बख़्शिश हैं तो उनके इस्तेमाल में अल्लाह ही के क़ानून का अनुपालन होना चाहिए। किसी दूसरे को हक़ नहीं पहुँचता कि उनके इस्तेमाल पर अपनी ओर से सीमाएँ निश्चित कर दे। अल्लाह के अतिरिक्त किसी और की निश्चित रस्मों की पाबन्दी करना और अल्लाह के सिवा किसी और के आगे नेमत के शुक्र की भेंट पेश करना ही सीमा से आगे बढ़ जाना है, और यही शैतान का अनुपालन है। तीसरे यह कि ये सब चीज़ें अल्लाह ने इनसान के खाने-पीने और इस्तेमाल करने ही के लिए पैदा की हैं। इसलिए पैदा नहीं कीं कि इन्हें अकारण वर्जित कर लिया जाए। अपने अंधविश्वास और अटकलों के आधार पर जो पाबन्दियाँ लोगों ने अल्लाह की रोज़ी और उसकी दी हुई चीज़ों के इस्तेमाल पर लगा ली हैं, वे सभी अल्लाह की इच्छा के विरुद्ध हैं।

"ऐ लोगो जो ईमान लाए हो, जो पाक चीज़ें अल्लाह ने तुम्हारे लिए हलाल की हैं उन्हें हराम न कर लो और सीमा से आगे न बढ़ो, अल्लाह को ज़्यादती करनेवाले अत्यन्त नापसन्द हैं। जो कुछ हलाल और पाक रोज़ी अल्लाह ने तुमको दी है उसे खाओ-पियो और उस अल्लाह की अवज्ञा से बचते रहो जिसपर तुम ईमान लाए हो।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयतें-87,88)

इस आयत में दो बातें कही गई हैं—प्रथम यह कि किसी चीज़ को हराम व हलाल करनेवाले स्वयं न बन जाओ। हलाल वही है जो अल्लाह ने हलाल किया है और हराम वही है जो अल्लाह ने हराम किया। अपने अधिकार से किसी हलाल को हराम करोगे तो अल्लाह के क़ानून के बजाय मन के क़ानून का पालन करनेवाले ठहरोगे।

दूसरी बात यह कि ईसाई संन्यासियों, हिन्दू योगियों, बौद्ध धर्म के भिक्षुओं और साधु सन्तों की तरह संसार से विरक्ति की नीति न अपनाओ। धार्मिक प्रवृत्ति के भले स्वभाव के लोगों में सदा से यह प्रवृत्ति पाई जाती रही है कि मन और देह के हक़ों के पूरा करने को वे आध्यात्मिक विकास में बाधा समझते हैं और यह विचार करते हैं कि अपने-आपको कष्ट में डालना, अपने मन को सांसारिक सुख-स्वादों से वंचित करना और दुनिया की जीवन-सामग्री से सम्बन्ध तोड़ना अपने आपमें पुण्यकर्म है और अल्लाह का सान्निध्य इसके बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के साथियों में भी कुछ लोग ऐसे थे जिनके भीतर यह मनोवृत्ति पाई जाती थी। अतः एक बार नबी (सल्ल०) को मालूम हुआ कि उनके कुछ साथियों ने प्रतिज्ञा की है कि हमेशा दिन को रोज़ा रखेंगे, रातों को बिस्तर पर न सोएँगे, बल्कि जाग-जागकर इबादत करते रहेंगे, मांस और चिकनाई इस्तेमाल न करेंगे, औरतों से सम्बन्ध न रखेंगे। इसपर आपने एक भाषण दिया और उसमें फ़रमाया कि "मुझे ऐसी बातों का आदेश नहीं दिया गया है। तुम्हारी इन्द्रियों का भी तुमपर हक़ है। रोज़ा भी रखो और खाओ-पियो भी, रातों को इबादत भी करो और सोओ भी। मुझे देखो, मैं सोता भी हूँ और इबादत भी करता हूँ, रोज़ा भी रखता हूँ और नहीं भी रखता। मांस भी खाता हूँ और घी भी। तो जो मेरे तरीक़े को पसन्द नहीं करता, वह मुझसे नहीं है।" फिर फ़रमाया, "यह लोगों को क्या हो गया है कि उन्होंने औरतों को और अच्छे खाने को और ख़ुशबू और नींद और सांसारिक स्वादों को अपने ऊपर हराम (अवैध) कर लिया है? मैंने तो तुम्हें यह शिक्षा नहीं दी है कि तुम संन्यासी बन जाओ। मेरे धर्म में न औरतों और गोश्त से बचने की बात है और न एकांतवास (संन्यास) और ब्रह्मचर्य है। इन्द्रियों पर नियंत्रण के लिए मेरे यहाँ रोज़ा है, संन्यास के सारे लाभ यहाँ जिहाद से प्राप्त होते हैं। अल्लाह की बन्दगी करो, उसके साथ किसी को साझी न करो, हज और उमरा करो, नमाज़ क़ायम करो और ज़कात दो और रमज़ान के रोज़े रखो। तुमसे पहले जो लोग हलाक हुए, वे इसलिए हलाक हुए कि उन्होंने अपने ऊपर सख़्ती की और जब उन्होंने स्वयं अपने ऊपर सख़्ती की तो अल्लाह ने भी उनपर सख़्ती की। ये उन्हीं

के अवशेष हैं जो तुमको मठों और ख़ानक़ाहों में नज़र आते हैं।" इसी सिलसिले में कुछ रिवायतों से यहाँ तक मालूम होता है कि एक सहाबी के बारे में नबी (सल्ल॰) ने सुना कि वे एक मुद्दत से अपनी पत्नी के पास नहीं गए हैं और रात-दिन इबादत में लगे रहते हैं, तो आपने बुलाकर उनको आदेश दिया कि अपनी पत्नी के पास जाओ। उन्होंने कहा : मैं रोज़े से हूँ। आपने फ़रमाया : रोज़ा तोड़ दो। हज़रत उमर (रज़ि॰) के समय में एक औरत ने शिकायत पेश की कि मेरे पति दिन भर रोज़ा रखते हैं और रात भी इबादत करते हैं और मुझसे कोई ताल्लुक़ नहीं रखते। हज़रत उमर (रज़ि॰) ने काब बिन सौरल अज़दी को उनके मुक़दमे की सुनवाई के लिए नियुक्त किया और उन्होंने फ़ैसला दिया कि इस औरत के पति को तीन रातों के लिए अधिकार है कि जितनी चाहें इबादत करें, मगर चौथी रात अनिवार्य रूप से उनकी पत्नी का हक़ है।

इस आयत में "सीमा से आगे बढ़ने" का व्यापक अर्थ है। हलाल को हराम करना और अल्लाह की ठहराई हुई पवित्र चीज़ों से इस तरह बचना कि मानो वे अपवित्र हैं, यह अपने आपमें एक ज़्यादती है। फिर पवित्र चीज़ों के इस्तेमाल में ज़रूरत से ज़्यादा ख़र्च करना भी ज़्यादती है, फिर हलाल की सीमा से बाहर क़दम निकालकर हराम की सीमाओं में प्रवेश करना भी ज़्यादती है। अल्लाह को ये तीनों बातें नापसन्द हैं।

5. सन्तुलित मार्ग

> "जो ख़र्च में न तो अपव्यय करते हैं और न कन्जूसी बल्कि उनका ख़र्च इन दोनों सीमाओं के बीच सन्तुलन पर रहता है। जो अल्लाह के सिवा किसी और उपास्य को नहीं पुकारते, अल्लाह की हराम की हुई किसी जान को नाहक़ क़त्ल नहीं करते और न ज़िना (व्यभिचार) करते हैं।—यह काम जो कोई करे वह अपने गुनाह का बदला पाएगा।" (क़ुरआन, सूरा-25 फ़ुरक़ान, आयतें-67,68)

अर्थात् न तो उनका हाल यह है कि अय्याशी और शादी-विवाह (और दिखावे के कामों) में बेझिझक रुपए ख़र्च करें, न उनकी हालत यह है कि

धन के एक पुजारी की तरह पैसा जोड़-जोड़कर रखें, न खुद खाएँ, न बाल-बच्चों की ज़रूरतें अपनी सामर्थ्य भर पूरी करें और न किसी भलाई के रास्ते में खुशदिली के साथ कुछ दें। इस्लामी दृष्टि से फ़ुज़ूलख़र्ची तीन चीज़ों का नाम है—

एक, अवैध कामों में धन लगाना,

दूसरे, जायज़ कामों में ख़र्च करते हुए सीमा पार कर जाना।

तीसरे, नेकी के कामों में ख़र्च करना मगर अल्लाह के लिए नहीं बल्कि दिखावे और प्रदर्शन के लिए। इसके विपरीत कन्जूसी में दो चीज़ें हैं—

एक, यह कि आदमी अपने और अपने बाल-बच्चों की ज़रूरतों पर अपनी सामर्थ्य और हैसियत के अनुसार ख़र्च न करे।

दूसरे, यह कि नेकी और भलाई के कामों में उसके हाथ से पैसा न निकले।

इन दोनों अतियों के बीच में सन्तुलन का मार्ग है।

6. ईमानदारी तथा न्याय

"और मदयनवालों की ओर हमने उनके भाई शुऐब को भेजा। उसने कहा, "ऐ क़ौम के भाइयो! अल्लाह की बन्दगी करो, उसके अतिरिक्त तुम्हारा कोई पूज्य नहीं है, तुम्हारे पास तुम्हारे रब का स्पष्ट मार्गदर्शन आ गया है, इसलिए नाप और तौल पूरे करो, लोगों को उनकी चीज़ों में घाटा न दो।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-85)

"उसकी क़ौम के सरदारों ने, जो उसकी बात मानने से इन्कार कर चुके थे, आपस में कहा, "अगर तुमने शुऐब की पैरवी स्वीकार कर ली तो बर्बाद हो जाओगे।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-90)

पहली आयत से मालूम हुआ कि इस क़ौम में दो बड़े दोष पाए जाते थे। एक शिर्क, दूसरे कारोबारी मामलों में बेईमानी, और इन्हीं दोनों चीज़ों में सुधार लाने के लिए हज़रत शुऐब (अलैहि०) पैग़म्बर बनाकर भेजे गए थे।

हज़रत शुऐब की क़ौम के सरदारों ने उनकी बात का जो उत्तर दिया उसपर से सरसरी तौर पर न गुज़र जाइए। यह ठहरकर बहुत सोचने का स्थान है। मदयन के सरदार और नेता वास्तव में यह कह रहे थे और इसी बात पर अपनी क़ौम को विश्वास दिला रहे थे कि शुऐब जिस ईमानदारी और सच्चाई की ओर बुला रहा है और चरित्र और आचरण के जिन स्थाई सिद्धान्तों की पाबन्दी कराना चाहता है, अगर उनको मान लिया जाए तो हम तबाह हो जाएँगे। हमारा व्यापार कैसे चल सकता है अगर हम बिल्कुल ही सच्चाई के पाबन्द हो जाएँ और खरे-खरे सौदे करने लगें? और हम जो दुनिया के सबसे बड़े राजमार्गों के चौराहे पर बसते हैं और मिस्र व इराक़ के सुसभ्य भव्य राज्यों की सीमाओं पर आबाद हैं, अगर हम क़ाफ़िलों को छेड़ना बन्द कर दें और सीधे-सादे शान्तिप्रिय लोग ही बनकर रह जाएँ तो जो आर्थिक और राजनीतिक लाभ हमें अपनी वर्तमान भौगोलिक स्थिति से मिल रहे हैं, वे सब समाप्त हो जाएँगे और पास-पड़ोस की क़ौमों पर हमारी जो धौंस बनी हुई है, वह बाक़ी न रहेगी—यह बात केवल शुऐब की क़ौम के सरदारों तक ही सीमित नहीं है। हर युग में बिगड़े हुए लोगों ने सत्य, सच्चाई और ईमानदारी की नीति अपनाने में ऐसे ही ख़तरे महसूस किए हैं। हर युग में बिगाड़ पैदा करनेवालों का यही विचार रहा है कि व्यापार और राजनीति और दुनिया के दूसरे मामले, झूठ, बेईमानी और अनैतिकता के बिना नहीं चल सकते। हर जगह सत्य-सन्देश के मुक़ाबले में जो ज़ोरदार विवशताएँ पेश की गई हैं, उनमें से एक यह भी रहा है कि अगर दुनिया की चलती हुई राहों से हटकर उस सन्देश का पालन किया जाएगा तो क़ौम नष्ट हो जाएगी।

अध्याय-6

ब्याज

ब्याज के विषय पर मौलाना मौदूदी का उर्दू में विस्तृत विवेचन 'सूद' नामक पुस्तक में उपलब्ध है। यहाँ उस पुस्तक के महत्वपूर्ण अंश तथा मौलाना का क़ुरआन की टीका-तफ़हीमुल-क़ुरआन में सूद पर की गई चर्चा का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। (संकलनकर्ता)

1. ब्याज से सम्बन्धित इस्लामी आदेश

सबसे पहले हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि क़ुरआन और हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की शिक्षाओं के अन्तर्गत 'ब्याज' क्या चीज़ है? उसकी सीमाएँ क्या हैं? इस्लाम में उसके वर्जित होने के जो आदेश आए हैं वे किन मामलात के बाद में है और इस्लाम उसको समाप्त करके इनसान की आर्थिक गतिविधियों को किस रीति से चलाना चाहता है।

क़ुरआन में ब्याज के लिए अरबी शब्द 'रिबा' प्रयुक्त हुआ है जिससे तात्पर्य माल की ज़्यादती तथा उसका 'मूल' से बढ़ जाना है। इस अर्थ को स्वयं क़ुरआन में भी व्यक्त कर दिया गया है–

> "और जो कुछ तुम्हारा ब्याज बाक़ी रह गया है उसे छोड़ दो...और यदि तुम प्राश्चित कर लो तो अपना मूलधन लेने का तुम्हें अधिकार है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-278, 279)

> "तुम जो कुछ ब्याज पर देते हो ताकि वह लोगों के मालों में सम्मिलित होकर बढ़ जाए तो वह अल्लाह यहाँ नहीं बढ़ाता।" (क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-39)

क़ुरआन के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मूलधन पर जो अधिकता होगी वह 'रिबा' कहलाएगी। परन्तु क़ुरआन ने प्रत्येक अधिकता को वर्जित घोषित नहीं किया है। वह एक विशेष प्रकार की अधिकता है इसलिए उसे 'अल-रिबा' (विशेष बढ़ोत्तरी) कहा गया जो इस्लाम से पूर्व भी अरब में चलन

में थी और वे उसे जायज़ समझते थे जैसे आज भी समझा जाता है। इस्लाम ने स्पष्ट किया कि मूलधन में जो वृद्धि व्यापार द्वारा होती है वह उस बढ़ोत्तरी से भिन्न है जो अल-रिबा से हुआ करती है। प्रथम प्रकार की वृद्धि अनुमन्य है जबकि दूसरी प्रकार की वर्जित है।

> "ब्याज खानेवालों की यह हालत इसलिए होगी कि उन्होंने कहा, "व्यापार भी तो अल-रिबा (ब्याज) को सदृश हैं, जबकि अल्लाह ने व्यापार को वैध और ब्याज को अवैध ठहराया।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-275)

क्योंकि अल-रिबा एक विशेष प्रकार की वृद्धि का नाम था और जिसे सब जानते थे इसलिए क़ुरआन में उसकी कोई व्याख्या नहीं की गई और केवल यह कह दिया गया कि अल्लाह ने इसे वर्जित किया है इसे छोड़ दो।

इस्लाम पूर्व में ब्याज की प्रचलित रीतियाँ

इस्लाम से पूर्व के ज़माने में अल-रिबा अर्थात् ब्याज की कई रीतियों का उल्लेख मिलता है–

● क़तादा कहते हैं कि अज्ञानताकाल का ब्याज का एक तरीक़ा यह था कि एक व्यक्ति किसी को अपनी चीज़ बेचता और मूल्य चुकाने के लिए एक निर्धारित अवधि तक अवसर देता। यदि वह अवधि गुज़र जाती तथा मूल्य नहीं चुकाया जाता, तो फिर और समय दे दिया जाता तथा क़ीमत में वृद्धि कर देता।

● मुजाहिद कहते हैं कि अज्ञानताकाल में ब्याज का तरीक़ा यह था कि एक व्यक्ति किसी से ऋण लेता और कहता कि तू मुझे इतना समय दे तो मैं इतना ज़्यादा दूँगा। (इब्ने जरीर)

● अबूबक्र जस्सास के शोध के अनुसार अज्ञानताकाल में लोग एक-दूसरे से ऋण लेते तो यह तय हो जाता कि इतनी अवधि इतनी धनराशि मूलधन से अधिक दी जाएगी। (अहकामुल क़ुरआन)

● इमाम राज़ी के शोध के अनुसार अज्ञानताकाल के लोगों का तरीक़ा

था कि वह एक व्यक्ति को निर्धारित अवधि के लिए रक़म देते और उससे हर महीने एक नियत रक़म ब्याज के रूप में वसूल करते रहते। जब वह अवधि समाप्त हो जाती तो मूलधन की माँग की जाती। अगर वह अदा न कर पाता तो फिर एक निर्धारित अवधि के लिए मुहलत दी जाती और ब्याज में वृद्धि कर दी जाती। (तफ़सीर कबीर)

लेन-देन की ये रीतियाँ अरब में प्रचलित थीं जिन्हें अरबवासी अपनी भाषा में 'अल-रिबा' कहते थे और यह वह चीज़ थी जिसपर प्रतिबन्ध का आदेश क़ुरआन में अवतरित हुआ।

ब्यापार और ब्याज में सैद्धान्तिक अन्तर

अब इस बात पर विचार कीजिए कि व्यापार और ब्याज में सैद्धान्तिक अन्तर क्या है? ब्याज की वे क्या विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह व्यापार से भिन्न हो जाता है? तथा इस्लाम ने किस कारण उससे रोका है?

कारोबारी मामला यह है कि विक्रेता एक वस्तु को बेचने के लिए प्रस्तुत करता है। क्रेता विक्रेता के बीच उस वस्तु की एक क़ीमत तय होती है और उस क़ीमत के बदले में क्रेता उस वस्तु को ले लेता है। इसमें दो स्थितियाँ अवश्य होती हैं—या तो विक्रेता ने वह वस्तु ख़ुद मेहनत और अपना माल उसपर ख़र्च करके उत्पादित की हो, या वह किसी दूसरे उत्पादक से उसे क्रय करके लाया हो। दोनों स्थितियों में वह अपनी मूल रक़म पर जो उसने उत्पादन में या क्रय करने में लगाई हो, अपने परिश्रम का प्रतिफल पाने का अधिकारी है और यही उसका लाभ है।

इसकी तुलना में ब्याज यह है कि एक व्यक्ति अपना माल दूसरे को उधार देता है और यह तय करता है कि मैं इतनी अवधि में अपने मूलधन पर इतनी रक़म अधिक लूँगा। इस मामले में मूलधन के सापेक्ष मूलधन है और मुहलत के बदले वह अधिक रक़म है जिसका निर्धारण पहले ही एक शर्त के रूप में कर लिया गया है। इसी अधिक रक़म का नाम ब्याज है जो किसी विशेष धन या वस्तु का प्रतिफल नहीं बल्कि केवल मुहलत का प्रतिफल होता है। क्रय-विक्रय के सौदे में भी यदि मूल्य तय हो चुका हो फिर

क्रेता से यह शर्त तय की जाए कि मूल्य के भुगतान में एक महीने के विलम्ब पर मूल्य में इतनी वृद्धि की जाएगी और यदि अवधि और बढ़ेगी तो इतनी क़ीमत और बढ़ जाएगी तो यह बढ़ोत्तरी ब्याज की परिभाषा में आ जाएगी।

अतः ब्याज की परिभाषा यह हुई कि उधार दिए गए धन पर जो अतिरिक्त रक़म अवधि के सापेक्ष एक शर्त के रूप में निर्धारित की जाए वह ब्याज है। अर्थात् (1) मूलधन पर बढ़ोत्तरी (2) यह बढ़ोत्तरी अवधि के अनुसार हो (3) मामले में बढ़ोत्तरी का अवधि के अनुसार होने का शर्त होना। यह तीन चीज़ें जिनसे ब्याज बनता है और प्रत्येक ऐसा ऋण का मामला जिसमें ये तीनों तत्व पाए जाते हों वह एक सूदी मामला है, चाहे वह ऋण उत्पादक कार्यों के लिए हो या व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो तथा ऋण लेनेवाला चाहे ग़रीब हो या अमीर।

व्यापार और ब्याज में सैद्धान्तिक अन्तर यह है—

(1) व्यापार में क्रेता और विक्रेता का लाभ बराबरी से प्राप्त होता है क्योंकि क्रेता उस वस्तु से फ़ायदा उठाता है जो उसने विक्रेता से ख़रीदी है तथा विक्रेता अपनी उस मेहनत वृद्धि और समय का प्रतिफल लेता है जिसको उसने क्रेता के लिए वस्तु उपलब्ध करने में लगाया है। इसके विपरीत सूदी लेन-देन में लाभ बराबरी से नहीं मिलता। ब्याज लेनेवाला तो निर्धारित मात्रा में रक़म प्राप्त कर लेता है जो उसके लिए निश्चित रूप से लाभकारी है, परन्तु इसके विपरीत ब्याज देनेवाले को केवल समय की मुहलत मिलती है जिसका लाभकारी होना निश्चित नहीं। यदि ऋणी ने अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं हेतु ऋण लिया है तब तो समय की मुहलत उसके लिए फ़ायदेमन्द नहीं बल्कि नुक़सानदेह है। और यदि उसने यह क़र्ज़ व्यापार, व्यवसाय या खेती में लगाने के लिए लिया है तो मुहलत में जिस तरह उसके लिए लाभ की सम्भावना है उसी प्रकार से हानि का भी ख़तरा है जबकि ऋणदाता प्रत्येक दशा में उससे अपने लाभ की एक निर्धारित रक़म वसूल कर लेता है चाहे उसको अपने कारोबार में लाभ हो या हानि। अतः ब्याज का मामला या तो एक पक्ष के लाभ और दूसरे की हानि पर होता है अथवा एक के लिए निश्चित और निर्धारित लाभ तथा दूसरे के लिए

अनिश्चित तथा अनिर्धारित लाभ पर।

(2) क्रय-विक्रय के सौदे में विक्रेता-क्रेता से चाहे कितना ही अधिक लाभ वसूल कर ले, बहरहाल वह यह लाभ केवल एक बार ही ले सकता है परन्तु ब्याज के मामले में ऋणदाता अपने धन पर लगातार लाभ वसूल करता रहता है तथा समय की गति के साथ-साथ उसका 'मुनाफ़ा' भी बढ़ता चला जाता है। ऋणी ने उसके धन से चाहे जितना भी लाभ कमाया फिर भी उसका लाभ एक सीमा के अन्दर ही होगा परन्तु उस ऋण के प्रतिफल में ऋणदाता जो फ़ायदा उठाता है उसकी कोई सीमा नहीं। सम्भव है वह उसकी पूरी कमाई उसके सभी संसाधनों पर अधिकार कर ले फिर भी यह सिलसिला समाप्त न हो।

(3) क्रय-विक्रय के लेन-देन में वस्तु और उसके मूल्य का विनिमय होते ही मामला समाप्त हो जाता है। उसके बाद क्रेता को कोई चीज़ विक्रेता को नहीं देनी होती परन्तु ब्याज के मामले में ऋणी प्राप्त मूलधन को ख़र्च कर चुकता है फिर ख़र्चा लिए हुए माल को पुनः प्राप्त करके ब्याज की वृद्धि के साथ वापस देना पड़ता है।

(4) व्यापार उद्योग और कृषि में इनसान मेहनत और बुद्धि लगाता है तथा उसका फ़ायदा लेता है मगर सूदी कारोबार में वह मात्र अपनी आवश्यकता से अधिक माल देकर किसी परिश्रम के बग़ैर दूसरों की कमाई में बड़ा हिस्सेदार बन जाता है। उसकी हैसियत उस साझेदार की-सी नहीं होती जो लाभ और हानि दोनों में शरीक होता है और लाभ में भागीदारी कारोबार में लाभ के अनुपात में होती है बल्कि वह ऐसा साझेदार होता है जो कारोबारी लाभ हानि तथा उसके लाभ के अनुपात की अनदेखी करके केवल निर्धारित लाभ का दावेदार होता है।

ब्याज क्यों मना है?

ये हैं वे कारण जिसके आधार पर अल्लाह ने व्यापार को अनुमन्य तथा सूद को वर्जित घोषित किया है। इसके अतिरिक्त सूद को वर्जित करने के कुछ अन्य कारण भी हैं। ब्याज इनसान में कंजूसी, स्वार्थपरता, कठोरता,

निर्दयता तथा धनलोलुपता पैदा करता है। वह एक क़ौम से दूसरी क़ौम में शत्रुता डालता है। वह लोगों में हमदर्दी और सहकारिता के सम्बन्ध समाप्त करता है। वह लोगों में धन जमा करने और केवल अपने व्यक्तिगत हित पर लगाने की मानसिकता पैदा करता है। वह सोसाइटी में धन के स्वतंत्र बहाव में बाधक होता है बल्कि धन के बहाव की दिशा उलट कर ग़रीबों से मालदारों की ओर फेर देता है, जिसके कारण जनमानस की दौलत सिमटकर एक ग्रुप के पास इकट्ठी होती चली जाती है, यह स्थिति अन्ततः सम्पूर्ण सोसाइटी के लिए बर्बादी का कारण बनती है। यह तथ्य अर्थशास्त्र का ज्ञान रखनेवालों से छिपी नहीं है। ब्याज के ये सभी कुप्रभाव ऐसे हैं जिनका इनकार नहीं किया जा सकता और साथ ही इस वास्तविकता से भी इन्कार सम्भव नहीं है कि इस्लाम जिस नक़्शे पर इनसान का नैतिक प्रशिक्षण, सामाजिक संगठन तथा आर्थिक प्रबन्धन करना चाहता है उसके प्रत्येक अंग से ब्याज पूर्णरूपेण प्रतिकूल है तथा सूदी कारोबार की छोटी-से-छोटी और सरसरी तौर पर हानिप्रद न दिखनेवाली स्थिति भी इस्लाम के इस पूरे नक़्शे को ख़राब कर देती है। यही कारण है कि क़ुरआन में अल्लाह ने बड़े ही कठोर शब्दों में ब्याज को प्रतिबन्धित करने का आदेश दिया है–

> "अल्लाह से डरो और जो कुछ तुम्हारा ब्याज लोगों पर बाक़ी है उसे छोड़ दो अगर वास्तव में तुम ईमानवाले हो। लेकिन यदि तुमने ऐसा न किया, तो सावधान हो जाओ कि अल्लाह और उसके रसूल की ओर से तुम्हारे विरुद्ध युद्ध की घोषणा है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-278, 279)

ब्याज के वर्जित करने के आदेश में कठोरता

क़ुरआन में अन्य कई अपराधों की मनाही का आदेश है तथा उनपर कठोर अप्रसन्नता व्यक्त की गई है परन्तु इतने कठोर शब्द किसी दूसरे गुनाह के बारे में नहीं है।[1] इसी कारण हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) ने इस्लामी राज्य की सीमा में ब्याज को रोकने के लिए कठिन प्रयास किए। आप

1. हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के एक कथन के अनुसार–ब्याज़ का गुनाह अपनी माँ के साथ ज़िना करने से सत्तर गुना अधिक है। (इब्ने माजा)

(सल्ल॰) ने नजरान के ईसाइयों से जो समझौता किया उसमें स्पष्ट रूप से लिख दिया कि अगर तुम सूदी कारोबार करोगे तो समझौता समाप्त हो जाएगा और हमको तुमसे जंग करना पड़ेगी। बनू मुग़ीरा क़बीले के लोग सूद खाने के मामले में अरब में प्रसिद्ध थे। मक्का विजय के बाद आप (सल्ल॰) ने उनकी ब्याज सम्बन्धी सभी रक़में निरस्त कर दीं तथा अपने सम्बन्धित कर्मचारी को निर्देशित कर दिया कि यदि वे न मानें तो उनसे जंग करो। स्वयं हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के चाचा हज़रत अब्बास एक बड़े महाजन थे। अपने अन्तिम हज के अवसर पर हुज़ूर (सल्ल॰) ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि अज्ञानताकाल के सभी ब्याज समाप्त किए जाते हैं और सबसे पहले मैं स्वयं अपने चाचा अब्बास का ब्याज निरस्त करता हूँ। उन्होंने यह भी कहा कि ब्याज लेने-देनेवाले, उसका दस्तावेज़ लिखनेवाले तथा उसपर गवाही देनेवाले सबपर अल्लाह की लानत।

इन सभी आदेशों का मनशा यह न था कि केवल सूद की एक विशेष प्रकार अर्थात् महाजनी सूद को बन्द किया जाए तथा उसके अतिरिक्त सभी प्रकार के ब्याज का द्वार खुला रहे, बल्कि वास्तविक उद्देश्य पूँजीवादी प्रवृत्ति, पूँजीवादी स्वभाव, पूँजीवादी कल्चर तथा पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली को पूर्णरूप से उखाड़ कर वह व्यवस्था स्थापित करना थी जिसमें कन्जूसी के बजाय उदारता हो, स्वार्थपरता के बजाय हमदर्दी और आपसी सहयोग हो, सूद के बजाय ज़कात हो, बैंक के स्थान पर राष्ट्रीय कोष हो तथा वह स्थितियाँ ही न पैदा हों जिनसे बचने के लिए पूँजीवादी प्रणाली में सहकारी सोसाइटियों, बीमा कम्पनियों तथा भविष्य निधियों की आवश्यकता पड़े और अन्ततः साम्यवाद की अस्वाभाविक प्रणाली को अपनाना पड़े।

ब्याज का औचित्य–एक बुद्धिसंगत विश्लेषण

अब तक हमने इस विषय पर केवल क़ुरआन और हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की शिक्षाओं को प्रस्तुत किया है, अब हम इसपर बुद्धि एवं तर्क की दृष्टि से चर्चा करेंगे।

सबसे पहले जिस बात को निश्चित होना चाहिए वह यह है कि क्या

वास्तव में ब्याज एक उचित चीज़ है? क्या एक व्यक्ति बुद्धि एवं तर्क की दृष्टि से अपने दिए हुए ऋण पर ब्याज की माँग करने का उचित अधिकार रखता है? तथा क्या यह न्यायसंगत है कि जो व्यक्ति किसी से ऋण ले वह उसको मूलधन के अतिरिक्त कुछ-न-कुछ ब्याज भी दे? यह इस चर्चा का सबसे पहला प्रश्न है जिसके तय हो जाने से आधी से अधिक चर्चा आपसे आप तय हो जाती है। क्योंकि यदि ब्याज एक न्यायोचित चीज़ है तो फिर उसको प्रतिबन्धित करने के मुक़दमे में कोई जान बाक़ी नहीं रहती, और यदि ब्याज को बुद्धि तथा न्याय के आधार पर उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता तो फिर यह बात विचारणीय हो जाती है कि इनसानी समाज में इस अनुचित चीज़ को अस्तित्व में रखने पर क्यों ज़ोर दिया जाए?

ब्याज के पक्ष में दिए गए तर्कों का विश्लेषण

1. जोखिम उठाने एवं त्याग करने का प्रतिफल : ब्याज के औचित्य के पक्ष में सबसे पहले जो तर्क दिया जाता है वह यह है कि जो व्यक्ति किसी दूसरे को अपना बचत किया हुआ धन उधार देता है वह एक ख़तरा मोल लेता है और त्याग करते हुए अपनी आवश्यकता को पीछे करके दूसरे की आवश्यकता को पूरा करता है। जिस माल से वह स्वयं फ़ायदा उठा सकता था उसे दूसरे के हवाले करता है। उधार लेनेवाले ने अगर उधार इसलिए लिया है कि अपनी कोई व्यक्तिगत आवश्यकता उससे पूरी करे तो उसे इस माल का किराया अदा करना चाहिए, जिस प्रकार वह मकान या फ़र्नीचर या सवारी का किराया देता है। यह किराया उस जोखिम का प्रतिफल भी होगा जो ऋणदाता ने अपना माल उसके हवाले करने में उठाया तथा इस बात का प्रतिफल भी होगा कि उसने अपने पवित्रता से कमाए धन को स्वयं प्रयोग में लाने के बजाय दूसरे को प्रयोग करने के लिए दे दिया। अगर ऋणी ने यह ऋण किसी उत्पादक क्रिया में लगाने हेतु लिया है तो फिर ऋणदाता उसपर सूद माँगने का और भी अधिकारी बन जाता है क्योंकि जब ऋणी उसकी दी हुई दौलत से फ़ायदा उठा रहा है तो आख़िर ऋणदाता इस फ़ायदे में से क्यों न हिस्सा प्राप्त करे?

इस दलील का यह भाग बिल्कुल ठीक है कि ऋण देनेवाला अपना माल दूसरे को देने में जोखिम में पड़ जाता है तथा अपने धन का त्याग भी करता है, परन्तु इसका आशय यह कैसे हो गया कि जोखिम तथा त्याग की क़ीमत पाँच या दस प्रतिशत वार्षिक या अर्द्धवार्षिक या मासिक वसूल करने का अधिकार ऋणदाता को प्राप्त हो गया। ऋण की वापसी न होने की जोखिम के आधार पर जो अधिकार उचित रीति से उसे पहुँचते हैं वे इससे अधिक कुछ नहीं है कि ऋणी की कोई चीज़ गिरवी रख ली जाए, अथवा ज़मानती माँग लिया जाए या फिर यह जोखिम ही न उठाए और क़र्ज़ देने से इनकार कर दे। मगर जोखिम न तो व्यापारिक सामान है जिसकी कोई क़ीमत हो और न कोई मकान या फ़र्नीचर या सवारी है कि उसका कोई किराया हो। जहाँ तक त्याग का मामला है तो वह उसी समय तक त्याग है जब तक कि वह कारोबार न हो। आदमी को त्याग करना हो तो त्याग ही करे तथा इस नैतिक कार्य के लिए नैतिक लाभ पर ही सन्तुष्ट रहे। यदि वह प्रतिफल की बात करता है तो फिर त्याग की बात न कहे बल्कि सीधे-सीधे सौदागरी करे और यह बताए कि वह क़र्ज़ के मामले में मूलधन के अतिरिक्त एक और रक़म माहवार या सालाना वसूल करता है उसका वह किस आधार पर हक़दार है?

क्या यह क्षतिपूर्ति (हर्जाना) है? मगर जो रक़म उसने उधार दी है वह उसकी ज़रूरत के अतिरिक्त थी और उसे वह स्वयं प्रयोग में नहीं ला रहा था। इसलिए यहाँ कोई क्षति ही नहीं हुई कि इस ऋण पर कोई हर्जाना लेने का अधिकारी होता।

क्या यह किराया है? मगर किराया तो उन चीज़ों का हुआ करता है जिन्हें किराएदार के लिए उपलब्ध कराने एवं ठीक रखने पर आदमी अपना समय, मेहनत तथा माल ख़र्च करता है। ऐसी चीज़ें किराएदार के प्रयोग करने से ख़राब होती है, टूटती-फूटती है तथा उनकी क़ीमत में ह्रास होता रहता है। यह परिभाषा इस्तेमाल की चीज़ों जैसे मकान, फ़र्नीचर और सवारी आदि पर तो सही जान पड़ती है और उन्हीं का किराया एक उचित चीज़ है परन्तु यह परिभाषा किसी भी तरह उपभोग की वस्तुओं जैसे गेहूँ, फल आदि

पर लागू नहीं होती और न रुपए पर जो केवल वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय का माध्यम है इसलिए इन चीज़ों का 'किराया' होने का कोई अर्थ ही नहीं है।

अधिक से अधिक एक ऋणदाता जो कुछ कह सकता है वह यह है कि मैं दूसरे व्यक्ति को अपने माल से फ़ायदा उठाने का अवसर दे रहा हूँ इसलिए मुझे इस फ़ायदे में से हिस्सा मिलना चाहिए। यह एक उचित माँग है मगर प्रश्न यह है कि जिस ग़रीब आदमी ने अपने भूखे बच्चों का पेट भरने के लिए तुमसे पचास रुपए उधार लिए क्या वास्तव में वह तुम्हारे दिए हुए अनाज या रुपए से ऐसा ही 'फ़ायदा' उठा रहा है कि तुम दो प्रतिशत मासिक के हिसाब से अपना हिस्सा पाने के पात्र हो? फ़ायदा तो वह बेशक उठा रहा है, इसका मौक़ा भी निस्सन्देह तुमने ही उसे दिया है परन्तु बुद्धि, न्याय, अर्थशास्त्र, कारोबारी उसूल किस दृष्टि से इस 'फ़ायदे' में से एक वित्तीय क़ीमत वसूल करो तथा क़र्ज़ माँगनेवाले की मुसीबत जितनी ज़्यादा हो उतनी ही यह 'क़ीमत' बढ़ जाए और उसकी मुसीबत की अवधि जितनी लम्बी होती जाए तुम्हारे दिए हुए लाभ के अवसर की क़ीमत भी महीनों और वर्षों के हिसाब से उसपर बढ़ती और चढ़ती चली जाए। तुम अगर इतना बड़ा दिल नहीं रखते कि एक ज़रूरतमन्द, परेशान इनसान को अपनी आवश्यकता से अधिक माल उसे दे दो, तो अधिक से अधिक तुम्हारे लिए उचित यह है कि अपनी रक़म की वापसी का इत्मीनान करके उसे क़र्ज़ दे दो। और यदि तुम्हारे दिल में क़र्ज़ देने की गुन्जाइश नहीं है तो आख़िरी चीज़ यह हो सकती है कि तुम उसे कुछ भी न दो। मगर व्यापार की यह कौन-सी उचित रीति है कि एक ग़रीब इनसान की मुसीबत और कष्ट तुम्हारे लिए लाभ कमाने का अवसर बन जाए, भूखे पेट और मरने की कगार पर पहुँचे रोगी तुम्हारे लिए रुपया लगाने (Investment) की जगह बन जाएँ और इनसानी कष्ट जितने बढ़े उतने ही तुम्हारे लिए 'लाभ' की सम्भावनाएँ भी बढ़ती चली जाएँ।

'लाभ उठाने का अवसर देना' अगर किसी स्थिति में कोई क़ीमत रखता है तो वह स्थिति यह है कि रुपया लेनेवाला उसे किसी कारोबार में लगाए।

इस परिस्थिति में धन देनेवाला यह कहने का हक़ रखता है कि मुझे उस फ़ायदे में से हिस्सा मिलना चाहिए जो मेरे धन से दूसरा व्यक्ति उठा रहा है। परन्तु सब जानते हैं कि पूँजी अकेले कोई लाभ पैदा करने की योग्यता नहीं रखती। वह लाभ केवल उस स्थिति में पैदा करती है जब इनसानी श्रम तथा बुद्धि उसपर काम करे। फिर इनसानी श्रम और बुद्धि भी उसके साथ लगते ही तुरन्त लाभ उत्पन्न करना आरम्भ नहीं कर देते बल्कि उसके लाभकारी होने के लिए पर्याप्त अवधि चाहिए होती है। फिर उसका लाभकारी होना निश्चित भी नहीं है, इसमें हानि और दिवालिया तक होने का ख़तरा होता है। लाभ होने की स्थिति में भी पेशगी तय नहीं किया जा सकता कि उसमें किस समय कितना लाभ होगा। अब यह बात किस तरह न्यायोचित हो सकती है कि धन देनेवाले का लाभ उसी समय से आरम्भ हो जाए जबकि इनसानी मेहनत और दिमाग़ ने उस धन को अभी हाथ ही लगाया हो? और उसके 'लाभ' की दर तथा मात्रा भी निर्धारित हो, जबकि पूँजी के साथ मेहनत के मिलने से लाभ पैदा होना न तो निश्चित है और न ही मालूम है कि इससे वास्तव में कितना लाभ उत्पन्न होगा।

न्यायोचित बात यह है जो व्यक्ति अपनी बचत किसी लाभ देनेवाली क्रिया में लगाना चाहता हो उसे मेहनत करनेवालों के साथ साझेदारी का समझौता करना चाहिए तथा लाभ-हानि में एक निर्धारित अनुपात में हिस्सेदार बन जाना चाहिए। लाभ कमाने का यह आख़िर कौन-सा उचित तरीक़ा है कि मैं एक व्यक्ति का साझी बनने के बजाय उसे सौ रुपए उधार दूँ और उससे कहूँ कि क्योंकि तू इस रक़म से फ़ायदा उठाएगा इसलिए तुझ पर मेरा यह हक़ है कि मुझे एक रुपया मासिक उस वक़्त तक देता रह जब तक मेरी रक़म तेरे कारोबार में इस्तेमाल हो रही है। सवाल यह है कि जब तक इस पूँजी को प्रयोग में लगाकर उसकी मेहनत ने लाभ पैदा करना न आरम्भ किया हो तब तक वह कौन-सा लाभ मौजूद है जिसमें से हिस्सा माँगने का मुझे हक़ पहुँचता हो? अगर वह व्यक्ति कारोबार में फ़ायदे के बजाय नुक़सान उठाए तो मैं किस तर्क और इनसाफ़ के आधार पर मासिक 'लाभ' वसूल करने का हक़ रखता हूँ? और यदि उसका लाभ एक रुपए

मासिक से कम रहे तो मुझे एक रुपया मासिक लेने का क्या हक़ है? और यदि उसका कुल लाभ एक रुपया ही हो क्या यह न्यायसंगत है कि जिसने महीने भर तक अपना समय, श्रम, योग्यता तथा व्यक्तिगत संसाधन सब कुछ ख़र्च किया वह तो कुछ न पाए और मैं जो केवल सौ रुपए देकर अलग हो गया था उसका पूरा लाभ ले उड़ूँ? एक बैल भी अगर तेली के लिए दिन भर कोल्हू चलाता है जो कम-से-कम उससे चारा माँगने का हक़ तो ज़रूर रखता है मगर यह ब्याज एक कारोबारी आदमी को ऐसा बैल बना देता है जिसे कोल्हू तो दिन भर मेरे लिए चलाना है और चारा कहीं और से खाना चाहिए।

अगर कारोबारी आदमी का लाभ उस निर्धारित रक़म से ज़्यादा भी हो जो ऋणदाता ने ब्याज के रूप में ऋणी के ज़िम्मे लगाई थी, तब भी अक़्ल, इनसाफ़, व्यापार के उसूल और आर्थिक नियम किसी आधार पर भी इस बात को उचित साबित नहीं किया जा सकता कि व्यापारी उत्पादक, किसान और दूसरे सभी लोग जो उत्पादन के साधन हैं और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपना वक़्त लगाते हैं, मेहनत करते हैं, दिमाग़ लड़ाते हैं, अपनी शारीरिक शक्तियों को झोंक देते हैं उन सब लोगों का लाभ तो अनिश्चित तथा सन्देह में हो मगर केवल एक आदमी का लाभ निश्चित तथा निर्धारित हो जिसने मात्र अपनी बचत की हुई रक़म उधार दे दी है। उन तमाम लोगों के लिए तो नुक़्सान का जोखिम भी हो मगर इसके लिए शुद्ध लाभ की गारन्टी हो। उन सबके लाभ की दर बाज़ार की क़ीमतों के साथ घटती-बढ़ती हो मगर एक व्यक्ति (पूँजीपति) जो लाभ अपने लिए तय कर चुका है वह उसे निरन्तर मासिक और वार्षिक मिलता रहे।

(2) समय की मुहलत देने का प्रतिफल

दूसरा वर्ग थोड़ी पोज़ीशन बदलकर कहता है कि वह चीज़ समय की 'मुहलत' है जो ऋणदाता अपनी पूँजी तथा उसके प्रयोग का अवसर ऋणी को देता है। यह मुहलत स्वयं एक क़ीमत रखती है और मुहलत की यह अवधि जितनी लम्बी होगी उसकी क़ीमत भी बढ़ती चली जाएगी। जिस दिन

से आदमी रुपया लेकर काम में लगाता है उस दिन तक जब तक उस पूँजी के द्वारा तैयार किया हुआ माल बाज़ार में पहुँचे तथा क़ीमत लाए एक-एक क्षण व्यापारी के लिए क़ीमती है। यह मुहलत अगर उसे न मिले और बीच ही में पूँजी उससे वापस ले ली जाए तो उसका कारोबार चल ही नहीं सकता। इसलिए यह समय रुपया लेकर कारोबार में लगानेवाले के लिए एक क़ीमत रखता है जिससे वह लाभ उठा रहा है फिर क्यों न रुपया देनेवाला इस फ़ायदे में से हिस्सा ले? वक़्त की कमी या अधिकता के साथ ऋणी के लिए लाभ की सम्भावनाएँ भी घटती बढ़ती हैं फिर क्यों न ऋणदाता वक़्त की कमी या अधिकता को ध्यान में रखकर पूँजी की क़ीमत तय करे।

मगर यहाँ फिर यह सवाल पैदा होता है कि धन देनेवाले को यह कैसे ज्ञात हो गया कि जो व्यक्ति काम में लगाने के लिए उससे धन ले रहा है वह अवश्य ही लाभ कमाएगा और कभी हानि नहीं उठाएगा? फिर यह उसने कैसे जान लिया कि उसका लाभ भी इतने फ़ीसद होगा? फिर उसके पास यह जानने का क्या साधन है कि वह समय जिसके दौरान वह ऋणी को अपने रुपए के इस्तेमाल की मुहलत दे रहा है अवश्य ही हर महीने और हर साल इतना लाभ लाता रहेगा इसलिए उसकी माहवार या सालाना क़ीमत यह होनी चाहिए? इन प्रश्नों का कोई सन्तोषप्रद उत्तर ब्याज समर्थकों के पास नहीं है इसलिए बात फिर वहीं आ जाती है कि कारोबारी मामलों में अगर कोई चीज़ न्यायसंगत है तो वह केवल लाभ-हानि में भागीदारी तथा आनुपातिक हिस्सेदारी है न कि ब्याज जो एक पूर्व निर्धारित दर से लागू कर दिया जाए।

(3) पूँजी के लाभ देने के गुण में हिस्सा

एक और वर्ग कहता है कि लाभ कमाना पूँजी का विशेष गुण है इसलिए एक व्यक्ति का दूसरे को उपलब्ध कराए गए धन को प्रयोग में लाना स्वयं इस बात का अधिकार देता है कि पूँजीपति, ब्याज की माँग करे तथा ऋण लेनेवाला ब्याज का भुगतान करे। पूँजी में यह शक्ति है कि वस्तुओं के उत्पादन तथा उपलब्धता में सहायक हो। पूँजी की सहायता से अधिक मात्रा

में ज़्यादा अच्छा माल तैयार होता है और ऊँची क़ीमत देनेवाली मंडियों तक पहुँच सकता है वरना कम मात्रा और घटिया सामान तैयार होगा और ऐसे स्थान पर नहीं पहुँच सकता जहाँ अच्छी क़ीमत मिल सके। यह सबूत है इस बात का कि लाभ देने का गुण पूँजी में रखा गया है। इसलिए मात्र उसका प्रयोग ही ब्याज का औचित्य उत्पन्न कर देता है।

लेकिन यह दावा सिरे से ग़लत है कि पूँजी में 'लाभ कमाने' का कोई निजी गुण पाया जाता है। यह गुण तो उसमें केवल उस समय पैदा होता है जब आदमी उस पूँजी को लेकर 'उत्पत्ति' की किसी प्रक्रिया में लगाए। केवल इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि क्योंकि रुपया लेनेवाला उससे एक फ़ायदेमन्द काम ले रहा है इसलिए उसे 'लाभ' में से हिस्सा देना चाहिए। मगर जो व्यक्ति बीमारी के इलाज के लिए या किसी की मृत्यु के अन्तिम संस्कार के लिए क़र्ज़ ले रहा है उसके पास यह धन कौन-सा 'आर्थिक मूल्य' पैदा करता है जिसमें हिस्सा बटाने का अधिकार ऋणदाता को पहुँचता हो?

फिर जो पूँजी लाभकारी कार्यों में लगाई जाती है वह भी ज़रूरी नहीं कि अधिक क़ीमत पैदा करे इसलिए यह दावा नहीं किया जा सकता कि लाभ कमाना उसका निजी गुण है। कभी-कभी किसी कार्य में पूँजी की अधिकता से लाभ बढ़ने के स्थान पर और घट जाता है यहाँ तक उलटे नुक़्सान की नौबत आ जाती है। आजकल व्यापारिक जगत पर जो उतार-चढ़ाव के दौरे पड़ते रहते हैं उनकी वजह यही तो है जब पूँजीपति व्यवसाय में बहुत अधिक पूँजी का निवेश करते चले जाते हैं और उत्पादन बढ़ने लगता है तो क़ीमतें गिरने लगती हैं और उत्पादन की अधिकता के साथ ही मूल्यों की गिरावट उस हद को पहुँच जाती है कि पूँजी के निवेश से किसी लाभ की आशा नहीं रहती।

पूँजी में लाभ कमाने का कोई गुण यदि है भी तो यह बहुत-सी अन्य चीज़ों पर निर्भर है जैसे पूँजी को प्रयोग में लानेवालों की मेहनत, योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा अनुभव, पूँजी के निवेश की अवधि में अनुकूल आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ, प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षा और

ऐसे ही कारक लाभदायिकता की अनिवार्य शर्तें हैं। इनमें से कोई एक भी न पाई जाए तो कभी-कभी पूँजी में लाभ कमाने की क्षमता समाप्त हो जाती है बल्कि उलटी नुक़्सान में बदल जाती है, परन्तु सूद पर पूँजी उपलब्ध करानेवाला न तो ख़ुद इन शर्तों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी लेता है और न यही मानता है कि अगर इनमें से किसी शर्त के पूरा न होने के कारण उसकी पूँजी लाभ न कमा सके तो वह कोई ब्याज लेने का हक़दार न होगा। वह तो इस बात का दावेदार है कि उसकी पूँजी का इस्तेमाल ही स्वयं एक निश्चित दर से ब्याज का हक़ पैदा करता है चाहे वास्तव में कोई 'लाभदायिकता' प्रकट हुई हो या न हुई हो।

अगर यह मान भी लिया जाए कि पूँजी के स्वभाव में ही लाभदायिकता मौजूद है जिसके आधार पर पूँजी देनेवाला लाभ में हिस्सा पाने का अधिकारी है तब भी वह कौन-सा गणित है जिसके द्वारा निश्चित रूप से यह बात ज्ञात हो जाती है कि आजकल पूँजी की लाभदायिकता इतनी है इसलिए जो लोग धन उधार लेकर इस्तेमाल करें उनको अनिवार्यतः इस दर से ब्याज का भुगतान करना चाहिए? और यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि वर्तमान में उस दर का निर्धारण किसी रीति से सम्भव है तो भी हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि जिस पूँजीपति ने सन् 1949 में किसी व्यापारिक संस्था को 10 साल के लिए तथा किसी दूसरी संस्था को 20 साल के लिए वर्तमान में प्रचलित ब्याज दर पर ऋण दिया था उसके पास यह जानने का कौन-सा साधन था कि आगामी दस या बीस वर्षों के दौरान पूँजी की लाभदायिकता अवश्य ही आज के स्तर पर रहेगी? विशेषकर जबकि 1959 में बाज़ार की ब्याजदर 1949 से पूर्णतया भिन्न हो तथा 1969 में उससे भी अधिक अन्तर आ जाए। तब किस तर्क से उस व्यक्ति को उचित ठहराया जाएगा जिसने एक संस्था से दस साल के लिए और दूसरी संस्था से बीस साल के लिए 1949 की दर के अनुसार पूँजी के सम्भावित लाभ में से अपना हिस्सा पूरे तौर पर निर्धारित करा लिया था?

(4) समय पसन्दगी का प्रतिफल

ब्याज के औचित्य पर जो आख़िरी दलील दी गई है उसमें ज़रा ज़्यादा चतुराई दिखाई गई है। उसका सार यह है। इनसान स्वभावतः वर्तमान के फ़ायदे, सुख और सन्तुष्टि को भविष्य के फ़ायदे और सुख पर वरीयता (Preference) देता है। भविष्य जितना दूर हो उतने ही उसके फ़ायदे और सुख संदिग्ध होते हैं और उसी हिसाब से आदमी की दृष्टि में उनकी क़ीमत कम होती चली जाती है। भविष्य की तुलना में वर्तमान की इस पसन्द के कई कारण हैं—

1. भविष्य का अन्धेरे में होना और जीवन का अनिश्चित होना जिसके कारण भविष्य के फ़ायदे भी सन्देह में होते हैं तथा उनकी कोई छवि भी आदमी के दिमाग़ में नहीं होती। इसके विपरीत आज जो नक़द लाभ प्राप्त हो रहा है वह निश्चित भी है और उसको आदमी अपने सिर की आँखों से देख भी रहा है।

2. जो व्यक्ति इस समय ज़रूरतमन्द है उसकी आवश्यकता का इस समय पूरा हो जाना उसके लिए इससे बहुत अधिक क़ीमत रखता है कि भविष्य में किसी अवसर पर उसको वह चीज़ मिले जिसका सम्भव है वह उस समय ज़रूरतमन्द हो और सम्भव है कि न हो।

3. जो इस समय मिल रहा है वह व्यावहारिक रूप से काम का है तथा प्रयोग में लाने योग्य है, इसलिए वह उस माल पर बड़ाई रखता है जो भविष्य में किसी समय प्राप्त होगा।

इन कारणों से वर्तमान का नक़द लाभ भविष्य के संदिग्ध लाभ पर वरीयता रखता है। इसलिए आज जो व्यक्ति एक रक़म उधार ले रहा है उसकी क़ीमत लाज़मी तौर पर उस रक़म से ज़्यादा है जो वह कल ऋणदाता को देगा और ब्याज वह मूल्य है जो रक़म वापसी के समय मूल के साथ सम्मिलित होकर उसकी क़ीमत को उस रक़म को बराबर करती है जो ऋण देते समय ऋणदाता ने उसको दी थी। उदाहरण के लिए उसे ऐसे समझें कि एक व्यक्ति साहूकार के पास आता है और उससे सौ रुपए क़र्ज़ माँगता है।

साहूकार उससे यह बात तय करता है कि आज जो सौ रुपए वह उसको दे रहा है उनके बदले में वह एक साल बाद उससे 103 रुपए लेगा। इस मामले में वर्तमान के 100 रुपयों का विनिमय भविष्य के 103 रुपयों से हो रहा है और तीन रुपए उस अन्तर के बराबर हैं जो वर्तमान के माल और भविष्य के माल की मनोवैज्ञानिक (न कि आर्थिक) क़ीमत के बीच पाया जाता है। जब तक यह तीन रुपए एक साल बाद के सौ रुपयों के साथ सम्मिलित न होंगे उनकी क़ीमत इन सौ रुपयों के बराबर न होगी जो ऋण देते समय ऋणदाता ने ऋणी को दिए थे।

यह दलील जिस होशियारी से दी गई है उसकी दाद न देना ज़्यादती है। मगर वास्तव में इसमें वर्तमान और भविष्य की मनोवैज्ञानिक क़ीमत का जो अन्तर बताया गया है वह एक भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

क्या वास्तव में इनसान की प्रकृति वर्तमान को भविष्य की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण तथा अधिक क़ीमती समझती है? अगर यह बात है तो क्या कारण है कि अधिकतर लोग अपनी पूरी कमाई को आज ही ख़र्च कर डालना उचित नहीं समझते बल्कि उसके एक भाग को भविष्य के लिए बचाकर रखना पसन्द करते हैं। शायद आपको एक प्रतिशत भी ऐसे लोग न मिलेंगे जो भविष्य की चिन्ता से बेपरवाह हो और आज के सुख और मज़े पर अपना पूरा माल उड़ा देना पसन्द करते हों। कम से कम 99 प्रतिशत लोगों का हाल तो यही है कि वह आज की ज़रूरतों को रोककर कल के लिए कुछ-न-कुछ बचत करके रखना चाहते हैं क्योंकि भविष्य में सामने आनेवाली बहुत-सी सम्भावित आवश्यकताएँ तथा संकटकालीन परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनका काल्पनिक नक़्शा आदमी की दृष्टि में उन हालात की तुलना में अधिक बड़ा तथा महत्वपूर्ण होता है जिनसे वह इस समय जैसे-तैसे गुज़र रहे हैं। फिर वह सारी दौड़-धूप और संघर्ष जो एक इनसान वर्तमानकाल में करता है उसका उद्देश्य इसके अतिरिक्त और क्या होता है कि उसका आनेवाला कल बेहतर हो? आज आदमी जो परिश्रम करता है वह इसी लिए करता है कि आनेवाले दिन आज से बेहतर व्यतीत हो। कोई मूर्ख से मूर्ख आदमी भी बड़ी मुश्किल से ऐसा मिलेगा जो इस क़ीमत पर अपने वर्तमान

को अच्छा बनाना चाहता है कि उसका भविष्य ख़राब हो जाए या कम-से-कम आज से बदतर हो। अज्ञानता या नादानी में आदमी ऐसा कर ले या किसी सामयिक इच्छा के दबाव से प्रभावित होकर ऐसा कर गुज़रे तो बात दूसरी है वरना सोच-समझकर तो कोई व्यक्ति भी इस रवैये को उचित नहीं ठहरा सकता।

फिर अगर थोड़ी देर के लिए इस दावे को ऐसे ही मान भी लिया जाए कि इनसान वर्तमान की सन्तुष्टि के लिए भावी हानि को गवारा करना ठीक समझता है तब भी वह तर्क सही नहीं बैठता जिसकी बुनियाद इस दावे पर रखी गई है। ऋण लेते समय जो मामला ऋणदाता और ऋणी के बीच तय हुआ था उसमें आपके कथनानुसार वर्तमान के 100 रुपयों की क़ीमत एक साल बाद के 103 रुपयों के बराबर थी परन्तु अब जो एक साल बाद ऋणी अपना ऋण चुकाने गया तो वास्तविक स्थिति यह थी कि वर्तमान के 103 रुपए गतवर्ष के 100 रुपए के बराबर हो गए। और यदि पहले साल ऋणी ऋण न चुका सका तो दूसरे साल के समापन पर गत वर्षों के 100 रुपयों की क़ीमत वर्तमान के 106 रुपयों के बराबर हो गई। क्या वास्तव में भूतकाल और वर्तमान में मूल्यों का यही अनुपात है और क्या यह उसूल भी सही है कि जितना-जितना भूतकाल पुराना होता जाए, उसकी क़ीमत भी वर्तमान की तुलना में बढ़ती चली जाए? क्या पहले गुज़री हुई आवश्यकताओं की सन्तुष्टि आपके लिए इतनी मूल्यवान है कि जो रुपया आपको एक लम्बे समय पहले मिला था जिसको ख़र्च करके आप भूल चुके हैं वह आपके लिए जीवन के हर क्षण के बीतने पर वर्तमान के रुपए से अधिक मूल्यवान होता चला जाए, यहाँ तक कि अगर आपको सौ रुपए इस्तेमाल किए हुए पचास साल बीत चुके हो तो अब उनकी क़ीमत 250 रुपए के बराबर हो जाए।

ये है उन दलीलों की पूरी दुनिया जो ब्याज खाने के पक्षधर इसको विवेक और न्याय की दृष्टि से एक जायज़ और उचित चीज़ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। उपरोक्त आलोचनात्मक विश्लेषण से आपको ज्ञात हो गया कि इस अपवित्र चीज़ का 'उचित' होने से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी भारी तर्क से भी ब्याज के लेने और देने का औचित्य प्रस्तुत नहीं किया

जा सकता। परन्तु घोर विडम्बना है कि जो चीज़ इतनी 'अनुचित' थी, पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने इसको अपने सर्वमान्य सिद्धान्तों में शामिल कर लिया और ब्याज के उचित होने को एक अकाट्य सत्यता तथा वास्तविकता के रूप में पूर्णरूप से अंगीकार कर लिया।

ब्याज दर

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि ब्याज का कोई औचित्य नहीं, फिर भी पाश्चात्य विद्वानों ने ब्याज को एक सर्वमान्य चीज़ स्वीकार करके सारी चर्चा इस बात पर केन्द्रित कर दी कि ब्याज की दर 'उचित' होनी चाहिए। आधुनिक युग के पाश्चात्य साहित्य में यह चर्चा तो आपको कम ही मिलेगी कि ब्याज अपने आपमें कोई लेने और देने योग्य चीज़ है भी या नहीं? हाँ जो कुछ भी वार्ता आप उनके यहाँ देखेंगे वह अधिकांशतः इस बात से सम्बन्धित है कि अमुक ब्याजदर अनुचित तथा 'सीमा से बढ़ी हुई' है, इसलिए आपत्तिजनक है तथा अमुक दर 'उचित' है इसलिए स्वीकार्य है।

परन्तु क्या वास्तव में कोई ब्याजदर 'उचित' है? थोड़े समय के लिए हम इस प्रश्न को छोड़ देते हैं कि जिस चीज़ का स्वयं उचित होना सिद्ध नहीं किया जा सकता उसकी दर के उचित या अनुचित होने की चर्चा की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न को छोड़कर हम केवल यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सी ब्याज दर है जिसको 'स्वाभाविक' और 'उचित' कहा जाता है? और किसी दर के लिए उचित या अनुचित होने का मानक क्या है? और क्या वास्तव में दुनिया के सूदी कारोबार में ब्याजदर का निर्धारण विवेकपूर्ण (Rational) आधार पर हो रहा है?

इस प्रश्न की जब हम खोजबीन करते हैं तो पहली बात जो हमारे सामने आती है वह यह है कि 'उचित ब्याज दर' नाम की कोई चीज़ दुनिया में कभी नहीं पाई गई है। विभिन्न दरों को अलग-अलग समय में उचित ठहराया गया और बाद में वही दरें अनुचित घोषित कर दी गई हैं। बल्कि एक ही समय में एक स्थान पर उचित दर एक है दूसरे स्थान पर दूसरी है। प्राचीन हिन्दू युग में कौटिल्य के अनुसार 15 से 60 प्रतिशत वार्षिक ब्याजदर पूर्णरूप से

उचित समझी जाती थी और यदि जोखिम अधिक हो तो दर इससे भी अधिक हो सकती थी।

अब तनिक यह विचार कीजिए कि क्या वास्तव में कोई ब्याजदर स्वाभाविक एवं उचित हो भी सकती है? इस प्रश्न पर जब आप विचार करेंगे तो आप स्वयं समझलेंगे कि कोई ब्याजदर अगर उचित रीति से निर्धारित हो सकती थी तो केवल उस स्थिति में जबकि उस लाभ की मात्रा निश्चित हो जाती (या हो सकती) जो एक व्यक्ति ऋण पर ली गई रक़म से प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए अगर यह बात निश्चित जो जाती कि एक वर्ष तक 100 रुपए का प्रयोग 25 रुपए के बराबर लाभ देता है तो यह तय किया जा सकता था कि इस फ़ायदे में से 5 रुपया या 2.5 रुपया या 1.25 रुपया उस व्यक्ति का स्वाभाविक एवं उचित भाग है, जिसकी रक़म वर्ष के दौरान इस्तेमाल की गई है। मगर स्पष्ट है कि इस तरह से पूँजी का लाभ न तो निश्चित किया गया है और न किया जा सकता है और न पूँजी बाज़ार में ब्याजदर के तय करने में कभी इस बात का ख़याल रखा जाता है कि रक़म उधार लेनेवाले को इससे कितना लाभ होगा, बल्कि कोई लाभ होगा भी या नहीं। व्यवहार में जो होता है वह यह है कि व्यक्तिगत ऋणों में ब्याजदर ऋणी की मजबूरी के आधार पर तय होती है और कारोबारी ऋणों में ब्याजदर का उतार-चढ़ाव कुछ दूसरे कारकों से होता है जिसका विवेक तथा इन्साफ़ से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

व्यक्तिगत ऋणों में एक महाजन सामान्यतया यह देखता है कि जो व्यक्ति उससे ऋण लेने आया है वह कितना ग़रीब है, कितना मजबूर है और ऋण न मिलने की स्थिति में कितना दुख झेलेगा। इन्हीं चीज़ों के आधार पर वह तय करता है कि मुझे इससे कितना सूद माँगना चाहिए। यदि वह कम ग़रीब है, रक़म कम माँग रहा है और बहुत अधिक परेशान नहीं है तो दर कम होगी। इसके विपरीत वह जितना ज़्यादा दरिद्र और ज़रूरतमन्द होगा उतनी ही दर बढ़ती जाएगी यहाँ तक कि भूखे आदमी का बच्चा बीमारी से मर रहा हो तो 400 या 500 प्रतिशत ब्याज भी उसके मामले में कुछ 'बेजा' नहीं है।

रहा दूसरे प्रकार का वित्तीय बाज़ार (अर्थात् कारोबारी) तो उसमें ब्याज दर का निर्धारण और उसका उतार-चढ़ाव जिन आधारों पर होता है इनके बारे में अर्थशास्त्रियों के दो मत हैं—

माँग और पूर्ति के प्रभाव

एक वर्ग कहता है कि माँग और पूर्ति (Demand and Supply) का नियम इसका आधार है। जब पूँजी की माँग करनेवाले कम और उसकी पूर्ति करनेवाले अधिक हो जाते हैं तो ब्याज की दर घटने लगती है, यहाँ तक कि जब वह बहुत कम हो जाती है तो लोग इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर कारोबार में लगाने लगते हैं और पूँजी की माँग बढ़ने लगती है जबकि पूँजी की पूर्ति कम होने लगती है परिणाम यह होता है कि ब्याज की दर चढ़ने लगती है और उस सीमा को पहुँच जाती है कि पूँजी की माँग रुक जाती है।

विचार कीजिए! पूँजीपति यह नहीं करता कि सीधे तरीक़े से व्यापारी (या उद्यमी) के साथ साझेदारी का अनुबन्ध करे और न्यायपूर्ण ढँग से उसके वास्तविक लाभ में अपना हिस्सा लगाए। इसके बजाए वह एक अनुमान लगाता है कि व्यवसाय में इस व्यक्ति को कम-से-कम इतना लाभ होगा, इसलिए जो रक़म मैं इसे दे रहा हूँ उसपर मुझे इतना ब्याज मिलना चाहिए। दूसरी ओर व्यावसायी भी अनुमान लगाता है जो रक़म मैं इससे ले रहा हूँ वह मुझे ज़्यादा-से-ज़्यादा इतना लाभ दे सकती है, इसलिए ब्याज उससे अधिक नहीं होना चाहिए। दोनों अनुमान से काम लेते हैं। पूँजीपति सदैव लाभ का पूर्वानुमान बढ़ा-चढ़ाकर करता है और व्यावसायी लाभ की आशा के साथ हानि की आशंकाओं को भी सामने रखता है। इस कारण दोनों के बीच सहयोग के बजाए टकराव की स्थिति बनी रहती है। जब व्यावसायी लाभ की आशा में पूँजी लगाना चाहता है तो पूँजीपति अपनी पूँजी की क़ीमत बढ़ाने लगता है, यहाँ तक कि इस ब्याज दर पर रुपया उधार लेकर कारोबार में लगाना 'लाभप्रद' नहीं रहता। इस प्रकार पूँजी का निवेश बन्द हो जाता है और आर्थिक प्रगति रुक जाती है और 'मन्दी' छा जाती है। ऐसे में पूँजीपति जब यह देखता है कि स्वयं उसकी तबाही निकट है तो वह ब्याजदर घटाने लगता है और व्यापारियों को उधार रक़म कारोबार में लगाने से लाभ

की उम्मीद हो जाती है, इस तरह व्यापार तथा उद्योग में फिर पूँजी आने लगती है। स्पष्ट है कि अगर उचित शर्तों पर पूँजी और कारोबारियों के बीच उचित सहभागिता होती तो सन्तुलित ढंग से दुनिया की अर्थव्यवस्था संचालित हो सकती थी। परन्तु जब क़ानून ने पूँजीपति के लिए सूद का द्वार खोल दिया तो पूँजी और व्यवसाय के पारस्परिक सम्बन्धों में सट्टे और जुए का अंश सम्मिलित हो गया और ब्याज दर की कमी-बेशी ऐसे जुएबाज़ी की रीतियों से होन लगी जिनके परिणामस्वरूप पूरी दुनिया सदैव आर्थिक संकट से घिरी रहती है।

तरलता या नक़दी

दूसरा वर्ग ब्याज दर के निर्धारण की दलील यह देता है कि जब पूँजीपति अपनी पूँजी को अपने इस्तेमाल योग्य (अर्थात् नक़द) रखना अधिक पसन्द करता है तो वह ब्याजदर बढ़ा देता है और जब उसकी यह इच्छा कम हो जाती है तो ब्याजदर भी घट जाती है। रहा यह प्रश्न कि पूँजीपति धन नक़द रखने को पसन्द क्यों करते हैं? तो इसका उत्तर वह यह देते हैं कि इसके अनेक कारण हैं। कुछ-न-कुछ रक़म व्यक्तिगत तथा व्यापारिक आवश्यकताओं के लिए रखना ज़रूरी होता है और कुछ अप्रत्याशित घटनाओं एवं ज़रूरतों के लिए रखना पड़ता है—जैसे किसी व्यक्तिगत मामले में असाधारण ख़र्च या किसी अच्छे सौदे का अचानक सामने आ जाना। इन दो कारणों के अतिरिक्त तीसरा और अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि पूँजीपति यह पसन्द करता है कि भविष्य में किसी समय क़ीमतें कम होने या ब्याजदर बढ़ने की स्थिति से लाभ उठाने के लिए उसके पास नक़द धन राशि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहे। अब प्रश्न पैदा होता है कि इन कारणों से अपने लिए इस्तेमाल योग्य रखने की जो इच्छा पूँजीपति के दिल में पैदा होती है क्या वह घटती-बढ़ती है जिसका प्रभाव ब्याजदर में घटा-बढ़ी के रूप में प्रकट होता है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि हाँ विभिन्न व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक कारणों से कभी यह इच्छा बढ़ जाती है इसलिए पूँजीपति ब्याज को बढ़ा देता है और व्यापारिक कार्यों की ओर पूँजी का बहाव कम हो जाता है। कभी इस इच्छा में कमी आ जाती है इसलिए

पूँजीपति ब्याजदर को घटा देता है और उसके घटने के कारण लोग व्यापार एवं उद्योग में लगाने के लिए अधिक पूँजी उधार लेने लगते हैं।

इस सुन्दर दिखनेवाली दलील के पीछे झाँककर देखिए कि क्या चीज़ छिपी है। जहाँ तक घरेलू और व्यापारिक आवश्यकता का सम्बन्ध है उनके आधार पर सामान्य अथवा असामान्य सब प्रकार की परिस्थितियों में पूँजीपति की नक़दी की इच्छा मुश्किल से 5 प्रतिशत पूँजी को प्रभावित करती है। इसलिए पहले दो कारणों को महत्व देना ठीक नहीं है। अपनी 95 प्रतिशत पूँजी जिस आधार पर वह कभी रोकता, कभी पूँजी बाज़ार की ओर बहाता है वह वास्तव में तीसरा कारण है और जब उसका विश्लेषण होगा तो उसके अन्दर से यह असलियत प्रकट होगी कि पूँजीपति ऊँचे दर्जे की स्वार्थी मानसिकता के साथ दुनिया के और अपने देश और समाज के हालात को देखता रहता है। वह चाहता है कि उसके पास पूँजी की तरलता का हथियार हर समय मौजूद रहे जिसके द्वारा वह सोसाइटी की कठिनाइयों, आपदाओं और मुसीबतों का अनुचित लाभ उठा सके और समाज की परेशानियों में वृद्धि करके अपनी खुशहाली को बढ़ा सके। इसलिए सट्टेबाज़ी के उद्देश्य से वह पूँजी को अपने पास रोक लेता है, ब्याजदर बढ़ा देता है, व्यापार और उत्पादन की ओर पूँजी का बहाव यकायक बन्द कर देता है और समाज पर उस भयंकर आपदा कर द्वार खोल देता है जिसका नाम मन्दी (Depression) है। फिर जब वह देखता है कि इस माध्यम से जो कुछ हरामख़ोरी वह कर सकता था कर चुका, आगे अधिक लाभ की आशा नहीं है बल्कि नुक़सान की सीमा निकट है तो पूँजी को तरल रखने की इच्छा उसके गन्दे मन में कम हो जाती है और वह सस्ती ब्याजदर का लालच देकर व्यापारियों को सार्वजनिक सूचना देने लगता है कि आओ मेरे पास बहुत-सा धन तुम्हारे प्रयोजन के लिए पड़ा हुआ है।

ब्याजदर की यही दो दलीलें आधुनिक युग के आर्थिक विशेषज्ञों ने प्रस्तुत की हैं और अपनी जगह दोनों ठीक है मगर प्रश्न यह है कि उनमें से जो भी कारण हो उससे आख़िर एक उचित और स्वाभाविक दर किस प्रकार निर्धारित होती या हो सकती है? या तो हमें 'विवेक', 'उचित' और

'स्वाभाविक' के अर्थ बदलने पड़ेंगे या फिर मानना पड़ेगा कि ब्याज स्वयं जिस प्रकार अनुचित चीज़ है उसी प्रकार से उसकी दर भी अनुचित कारणों से निर्धारित होती और घटती-बढ़ती है।

ब्याज का 'आर्थिक लाभ' और उसकी 'अपरिहार्यता'

इसके बाद ब्याज के पक्षधर यह चर्चा छेड़ देते हैं कि ब्याज एक आर्थिक आवश्यकता है तथा कुछ लाभ ऐसे हैं जो उसके अभाव में प्राप्त ही नहीं हो सकते। इस दावे के पक्ष में वे जो तर्क देते उनका सार यह है—

(1) अर्थव्यवस्था पूँजी निर्माण पर निर्भर है और पूँजी निर्माण सम्भव नहीं जब तक कि लोग अपनी आवश्यकताओं को न रोकें और अपनी सम्पूर्ण आय को व्यय न करें बल्कि कुछ-न-कुछ बचत भी करते रहा करें। यही एक रीति है पूँजी इकट्ठा होने की। परन्तु एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को रोकने और बचत करने के लिए क्यों तैयार हो जब तक कि उसे इस आत्म-संयम और त्याग का कोई प्रतिफल न मिले। ब्याज ही वह प्रतिफल है जिसकी आशा लोगों को धन बचाने पर तैयार करती है। तुम उसे अवैध घोषित करोगे तो अतिरिक्त आय की बचत का सिलसिला बन्द हो जाएगा जो पूँजी निर्माण का वास्तविक माध्यम है।

(2) व्यापार की ओर पूँजी के बहाव की सरल रीति यह है कि लोगों के लिए अपनी जमा पूँजी को ब्याज पर चलाने का द्वार खुला रहे। इस प्रकार ब्याज ही का लालच उनसे धन जमा कराता है फिर ब्याज का ही लालच उनको इस पर तैयार करता रहता है कि अपनी बचत की रक़मों को बेकार न डाल रखे, बल्कि कारोबारी लोगों के हवाले कर दे और एक निर्धारित दर के अनुसार ब्याज वसूल करते रहें। इस दरवाज़े को बन्द करने का अर्थ यह है कि न केवल धन इकट्ठा करने का एक महत्वपूर्ण प्रेरक ग़ायब हो जाए बल्कि जो थोड़ी-बहुत पूँजी जमा हो वह भी व्यापार में विनियोग के लिए उपलब्ध न हो सके।

(3) सूद केवल यही नहीं करता कि पूँजी का निर्माण कराता है और उसे व्यवसाय की ओर खींच लाता है बल्कि वही पूँजी के अलाभकारी प्रयोग को

रोकता भी है। ब्याजदर ही ये प्रबन्ध करती है कि पूँजी कारोबार में निवेश के विभिन्न विकल्पों में से उन विकल्पों की ओर जाए जो सबसे अधिक लाभकारी हों। इसके अतिरिक्त कोई अन्य पद्धति ऐसी समझ में नहीं आती जो विभिन्न व्यावहारिक विकल्पों में से लाभकारी को अलाभकारी से और अधिक लाभकारी को कम लाभकारी से अलग छाँट सके और लाभकारिता की ओर पूँजी को दिशा देती रहे। यदि आप ब्याज को हटा देंगे तो परिणाम यह होगा कि एक तो लोग बड़ी लापरवाही से पूँजी का प्रयोग करने लगेंगे और फिर लाभ हानि का ध्यान किए बग़ैर हर प्रकार के उलटे-सीधे कामों में उसे लगाना शुरू कर देंगे।

(4) ऋण मानवीय जीवन की आवश्यकताओं में से है। व्यक्तियों को भी अपने निजी मामलों में इसकी ज़रूरत होती है और कारोबारी लोगों को भी इसकी आवश्यकता रहती है और हुकूमतों का भी काम इसके बग़ैर नहीं चल सकता। इतनी अधिक और बड़े पैमाने पर ऋण की उपलब्धता दान (Charity) के बल पर कहाँ तक हो सकती है? अगर आप पूँजीपतियों को ब्याज का लालच न देंगे और इस बात को सुनिश्चित नहीं करेंगे कि उनके मूलधन के साथ ब्याज भी मिलता रहेगा तो वे कभी ऋण देने को तैयार नहीं होंगे और इस प्रकार ऋणों की उपलब्धता रुक जाने का बहुत बुरा प्रभाव पूरी आर्थिक प्रक्रिया पर पड़ेगा। एक ग़रीब आदमी को अपने बुरे वक़्त पर महाजन से क़र्ज़ मिल तो जाता है। सूद का लालच न हो तो उसका मुर्दा बेकफ़न ही पड़ा रह जाए और कोई उसकी तरफ़ मदद का हाथ न बढ़ाए। एक व्यापारी को तंगी की स्थिति में सूदी क़र्ज़ तुरन्त मिल जाता है और उसका काम चलता रहता है। यह दरवाज़ा बन्द हो जाए तो न जाने कितनी बार दीवाला निकलने की नौबत आ जाए। ऐसा ही मामला हुकूमतों का भी है कि उनकी ज़रूरतें भी सूदी क़र्ज़ से पूरी होती रहती हैं वरना करोड़ों रुपए उपलब्ध करानेवाले दानी आख़िर उन्हें रोज़-रोज़ कहाँ मिल सकते हैं?

क्या ब्याज वास्तव में ज़रूरी और फ़ायदेमन्द है?

आइए अब हम इनमें से एक-एक 'फ़ायदे' और 'ज़रूरत' का विश्लेषण

करें कि वास्तव में सूद में कोई फ़ायदा और ज़रूरत है भी या यह सब कुछ शैतानी भ्रमजाल है। पहली भ्राँति यह है कि अर्थव्यवस्था के लिए बचत और धन संचय को एक ज़रूरी और फ़ायदेमन्द चीज़ समझा जाता है जबकि मामला इसके विपरीत है। वास्तव में सम्पूर्ण आर्थिक प्रगति और ख़ुशहाली इस बात पर निर्भर करती है कि सोसाइटी कुल मिलाकर जितनी कुछ उत्पादन करे वह शीघ्र बिक जाए ताकि उत्पादन और उसकी खपत का चक्र सन्तुलन और तीव्र गति से चलता रहे। यह बात केवल उसी स्थिति में सम्भव है जबकि लोग साधारणतया इस बात के अभ्यस्त हों कि आर्थिक दौड़-धूप के बीच जो दौलत उनके हिस्से में आए उसे ख़र्च करते रहें और इतने विशाल हृदयवाले हों कि अगर उनके पास उनकी अपनी आवश्यकता से अधिक दौलत आ गई हो तो सोसाइटी के कम भाग्यशाली लोगों की ओर हस्तान्तरित कर दिया करें ताकि वे भी आसानी से अपनी ज़रूरत की चीज़ें क्रय कर सकें। मगर आप इससे उलट लोगों को यह सिखाते हैं कि जिसके पास आवश्यकता से अधिक दौलत पहुँची हो वह कन्जूसी करके (जिसे आप 'संयम' और 'त्याग' आदि कहते हैं।) अपनी उचित आवश्यकताओं का बड़ा भाग पूरा करने से रुक जाए और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करने का प्रयास करे। आपके अनुसार इसका लाभ यह होगा कि पूँजी इकट्ठी होकर व्यापार और व्यवसाय के लिए उपलब्ध होगी। मगर वास्तव में इसका नुक़्सान यह होगा कि जो माल इस समय बाज़ार में मौजूद है उसका एक बड़ा भाग पड़ा रह जाएगा, क्योंकि जिन लोगों में क्रय शक्ति पहले से कम थी वह सामर्थ्य न होने के कारण सामान क्रय नहीं कर सके और जो अपनी आवश्यकतानुसार क्रय कर सकते थे उन्होंने सामर्थ्य के होते हुए भी ख़रीदारी नहीं की, जिनके पास अतिरिक्त क्रय शक्ति थी उन्होंने उस धन को दूसरों तक हस्तान्तरित करने के बजाए अपने पास रोककर रख लिया। अब यदि प्रत्येक आर्थिक चक्र में यही होता रहे कि आवश्यकतानुसार तथा आवश्यकता से अधिक क्रय शक्ति रखनेवाले लोग अपनी इस शक्ति के बड़े भाग को न तो स्वयं वस्तुओं को क्रय करने में प्रयुक्त करें और न कम क्रय शक्ति रखनेवालों को दें, बल्कि उसे रोकते और इकट्ठा करते चले

जाएँ तो इसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक चक्र में सोसाइटी के उत्पादन का बड़ा भाग विक्रय होने से रुक जाएगा। रोज़गार में कमी होगी। रोज़गार की कमी से आय प्रभावित होगी जिसका प्रभाव उत्पत्ति और माँग की कमी के रूप में सामने आएगा। इस प्रकार कुछ लोगों की दौलत को इकट्ठा करने की प्रवृत्ति बहुत से लोगों की ग़रीबी का कारण बनेगी और अन्ततः यह चीज़ उन पूँजीपतियों के लिए भी वबाल बन जाएगी क्योंकि जिस दौलत को वह ख़रीदारी में लगाने के बजाए समेट-समेटकर अधिक पैदावार में प्रयुक्त करेंगे उसकी खपत कहाँ होगी।

अगर गहन विचार किया जाएगा तो ज्ञात होगा कि वास्तविक आर्थिक आवश्यकता उन कारणों और तत्वों को दूर करना है जिनके आधार पर लोग अपनी आय को ख़र्च करने के स्थान पर रोककर रखने की ओर झुकाव रखते हैं। सम्पूर्ण सोसायटी का भला इसी में है कि एक ओर तो ऐसे सामूहिक प्रबन्ध कर दिए जाएँ जिनकी सहायता से कठिन समय में उन्हें आर्थिक मदद मिल जाया करे ताकि लोगों को अपनी आमदनियाँ जमा करने की आवश्यकता ही प्रतीत न हो तथा दूसरी ओर जमा राशियों पर 'ज़कात' लगाई जाए ताकि लोगों में धन संचय की प्रवृत्ति कम हो तथा जो दौलत रुक जाए उसका एक भाग उन लोगों तक पहुँच जाए जिन्होंने धन के प्रवाह में से कम हिस्सा पाया है। परन्तु आप, इसके विपरीत सूद का लालच दे-देकर लोगों की स्वाभाविक कन्जूसी को और अधिक उकसाते हो और जो कन्जूस नहीं हैं उनको भी यह सिखाते हैं कि वह ख़र्च करने के स्थान पर माल जमा करके रखें।

फिर इस ग़लत रीति से सामूहिक हित के विपरीत जो पूँजी इकट्ठी हीती है उसको आप उत्पादक कार्यों की ओर लाते भी हैं तो ब्याज के रास्ते से लाते हैं। यह सामाजिक हित पर आपका दूसरा अत्याचार है। अगर यह इकट्ठा हुआ धन इस शर्त पर कारोबार में लगता कि जितना कुल लाभ कारोबार में होगा उसमें से पूँजीपति को समानुपात में मिल जाएगा तब भी कोई बुराई न थी। मगर आप उसको इस शर्त पर पूँजी बाज़ार में लाते हैं कि व्यवसाय में चाहे कम लाभ हो या अधिक, प्रत्येक परिस्थिति में पूँजीधारक निश्चित प्रतिशत लाभ अवश्य पाएगा। इस तरह आपने सोसाइटी की अर्थव्यवस्था

को दोहरी हानि पहुँचाई। एक हानि वह जो धन को ख़र्च न करने और रोक रखने से पहुँची और दूसरी यह कि जो धन अर्थव्यवस्था की ओर पलटा भी तो साझेदारी के सिद्धान्त पर कारोबार में सम्मिलित नहीं हुआ बल्कि ऋण बनकर पूरे समाज के व्यापार और व्यवसाय पर लद गया और आपके क़ानून ने उसको पूर्वनिर्धारित लाभ की गारन्टी दे दी। अब आपकी इस ग़लत व्यवस्था के कारण स्थिति यह हो गई कि समाज के अधिकतर लोग उस क्रय शक्ति को जो उन्हें प्राप्त है उत्पादन को क्रय करने में ख़र्च करने के बजाए रोक-रोककर सूदी क़र्ज़ के रूप में समाज के सिर पर लादते चले जाते हैं और समाज इस बढ़ती हुई जटिलता में घिर गया है कि आख़िर वह हर क्षण बढ़ने वाले क़र्ज़ तथा सूद को किस प्रकार अदा करे जबकि इस पूँजी से उत्पादित सामान की खपत बाज़ार में कठिनाई से हो रही है। लाखों-करोड़ों लोग इसलिए नहीं ख़रीदते कि उनके पास साधन नहीं और हज़ारों लोग इसलिए क्रय नहीं करते कि वे अपनी क्रय-शक्ति को सूदी क़र्ज़ बनाने के लिए संचित करते चले जा रहे हैं।

आप इस ब्याज का लाभ यह बताते हैं कि उसके दबाव में व्यापारी मजबूर होता है कि पूँजी के फ़ज़ूल प्रयोग से बचे और उसको अधिक-से अधिक लाभकारी रीति से इस्तेमाल करे। आप ब्याजदर का यह गुण बताते हो कि यह चुपचाप कारोबार को मार्ग दिखाती रहती है और यह उसी के कारण है कि पूँजी अपने बहाव के लिए सभी सम्भावित रास्तों में से उस कारोबार का चयन कर लेती है जो सबसे अधिक लाभकारी होता है। परन्तु तनिक परदा उठाकर देखिए कि इसके पीछे क्या वास्तविकता छुपी है। वास्तव में ब्याज ने पहली सेवा तो यह प्रदान की कि 'लाभ' की सभी दूसरी व्याख्याएँ निरस्त हो गईं और इस शब्द का केवल एक अर्थ शेष रह गया।

वित्तीय लाभ और भौतिक फ़ायदा। इस प्रकार पूँजी को बड़ी 'एकाग्रता' प्राप्त हो गई। पहले वह उन रास्तों पर भी चली जाया करती थी जिनमें वित्तीय लाभ के अतिरिक्त भी लाभ होता था, मगर अब वह सीधा उन रास्तों का रुख़ करता है जिधर वित्तीय लाभ निश्चित होता है। फिर दूसरा काम वह ब्याजदर के द्वारा यह करता है कि पूँजी को लाभकारी प्रयोग का पैमाना

सामाजिक हित नहीं बल्कि पूँजीपति का हित है। बयाजदर यह तय कर देती है कि पूँजी उस काम में लगेगी जिसमें उदाहरण के लिए 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष या उससे अधिक लाभ पूँजीपति को मिल सकता हो। इससे कम लाभ देनेवाला कोई काम इस योग्य नहीं है कि उसमें पूँजी का निवेश किया जाए। अब मान लीजिए कि एक स्कीम यह आती है कि भवन निर्माण किए जाएँ जो ग़रीब लोग कम किराए पर ले सकें। दूसरी स्कीम यह आती है कि एक विशाल सिनेमाघर बनाया जाए। पहली स्कीम में 6 प्रतिशत से कम लाभ की उम्मीद है और दूसरी स्कीम में उससे अधिक लाभ दिखाई देता है। सामान्य परिस्थितियों में इस बात की सम्भावना थी कि पूँजी 'नादानी' के साथ पहली स्कीम की ओर चली जाती या कम-से-कम दोनों स्कीमों के बीच सोच-विचार पर विवश होती, मगर ब्याजदर के 'मार्गदर्शन' के कारण पूँजी बिना हिचक दूसरी स्कीम की ओर चल पड़ती है और पहली स्कीम को आँख उठाकर भी नहीं देखती। फिर ब्याज की दर व्यावसायी को मजबूर कर देती है कि वह हर सम्भव नीति से हाथ-पैर मारकर अपने लाभ को उस सीमा के ऊपर ही ऊपर रखने की कोशिश करे जो पूँजीपति ने खींच दी है चाहे इसके लिए उसे कैसे ही अनैतिक कार्य करने पड़े। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति ने एक फ़िल्म कम्पनी स्थापित की है। जो पूँजी उसमें लगी है उसकी ब्याजदर 6 प्रतिशत वार्षिक है तो उसको प्रत्येक दशा में वह तरीक़े अपनाने पड़ेंगे जिनसे उसके कारोबार का 'मुनाफ़ा' हर हाल में इस ब्याजदर से अधिक रहे। यह मुनाफ़ा अगर ऐसी फ़िल्म से प्राप्त न हो सके जो नैतिक दृष्टि से साफ़-सुथरी और ज्ञानवर्धक हो तो वह मजबूर होगा कि अश्लील फ़िल्म बनाए और ऐसे विज्ञापन दे कि लोगों की वासना भड़के और लोग बड़ी संख्या में फ़िल्म देखने आएँ।

यह है उन फ़ायदों की वास्तविकता जो आपके अनुसार सूद से हासिल होते हैं और जिनके प्राप्त करने का कोई और साधन सूद के अतिरिक्त नहीं है। अब तनिक उस आवश्यकता को भी देखें जो आपके अनुसार ब्याज के अभाव में पूरी नहीं हो सकती। निस्सन्देह ऋण मानवीय जीवन की आवश्यकताओं में से है। इसकी ज़रूरत लोगों को अपनी निजी आवश्यकताओं

में भी होती है, व्यापार, व्यवसाय कृषि आदि में भी माँग रहती है और हुकूमत सहित सभी सामूहिक संस्थाएँ इसकी हाजतमन्द रहती हैं। परन्तु यह कहना ग़लत है कि ब्याज के बग़ैर ऋण की उपलब्धता असम्भव है। वास्तव में यह स्थिति कि व्यक्तियों से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक किसी को भी एक पैसा बयाजरहित ऋण नहीं मिलता इस कारण पैदा हुई कि आपने ब्याज को क़ानून द्वारा जायज़ कर रखा है। इसको हराम (वर्जित) घोषित कीजिए और अर्थव्यवस्था के साथ-साथ नैतिकता की भी वह व्यवस्था अपनाइए जो इस्लाम ने प्रस्तुत की है, फिर आप देखेंगे कि व्यक्तिगत आवश्यकताओं और कारोबारी तथा सामाजिक ज़रूरतों हर चीज़ के लिए ब्याजरहित ऋण मिलना आरम्भ हो जाएगा, बल्कि उपहार तक मिलने लगेंगे। इस्लाम इसका व्यावहारिक प्रमाण दे चुका है। सदियों तक मुस्लिम समाज सूद के बग़ैर बेहतरीन तरीक़े से अपनी अर्थव्यवस्था का सारा काम चलाता रहा है। आपके इस दुर्भाग्यपूर्ण ब्याज के युग से पहले कभी मुस्लिम समाज की यह स्थिति नहीं रही कि किसी मुसलमान का जनाज़ा इसलिए कफ़नरहित पड़ा रह गया हो कि उसके वारिस को कहीं से ब्याजरहित ऋण नहीं मिला। या मुसलमानों के व्यापार, उद्योग या कृषि इसलिए बैठ गए कि कारोबारी आवश्यकता के समय ब्याजरहित ऋण उपलब्ध न हो सका या मुसलमान हुकूमतें जनकल्याण के कार्यों के लिए इस कारण पूँजी न जुटा सकीं कि उनके लोग अपनी हुकूमत को ब्याजरहित धन देने को तैयार न थे। अतः आपका यह दावा कि ब्याजरहित ऋण अव्यावहारिक है और ऋण लेने और देने की इमारत केवल सूद पर खड़ी हो सकती है, के इनकार के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है, हम अपने सदियों के व्यवहार से इसे ग़लत सिद्ध कर चुके हैं।

ब्याज के बिगाड़

पवित्र क़ुरआन में है—

"इसलिए जिस व्यक्ति को उसके रब की ओर से यह नसीहत पहुँचे और आगे के लिए वह सूदख़ोरी से रुक जाए, तो जो कुछ वह पहले

खा चुका सो खा चुका, उसका मामला अल्लाह के हवाले है। और जो इस आदेश के बाद फिर उसी कर्म को दोहराए वह जहन्नमी है, जहाँ वह सदैव रहेगा। अल्लाह ब्याज का मठ मार देता है तथा सदक़ों (दान-पुण्य) को पोषित करता है और अल्लाह किसी नाशुक्रे (Ungrateful) एवं दुष्कर्मी को पसन्द नहीं करता।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-275, 276)

अल्लाह ने यह नहीं कहा कि जो कुछ उसने खा लिया उसे अल्लाह क्षमा कर देगा, बल्कि कहा यह जा रहा है कि उसका मामला अल्लाह के हवाले है। इस वाक्यांश में 'जो कुछ वह पहले खा चुका सो खा चुका' कहने का अर्थ यह नहीं है जो खा चुका उसे माफ़ कर दिया गया, बल्कि इससे तात्पर्य केवल क़ानूनी रिआयत है। अर्थात् जो सूद पहले खाया जा चुका है उसकी वापसी के लिए क़ानून के अनुसार माँग नहीं की जाएगी, क्योंकि अगर यह माँग की गई तो मुक़दमों का एक न समाप्त होने वाला सिलसिला शुरू हो जाएगा। परन्तु नैतिक हैसियत से उस माल की अपवित्रता पहले की भाँति शेष रहेगी जो किसी व्यक्ति ने सूदी कारोबार से समेटा हो। यदि वह वास्तव में अल्लाह से डरनेवाला होगा तथा उसका आर्थिक एवं नैतिक दृष्टिकोण इस्लाम को अपनाने से बदल चुका होगा, तो वह स्वयं अपनी उस दौलत को जो हराम तरीक़े से आई थी अपने ऊपर ख़र्च करने से बचेगा और कोशिश करेगा कि जहाँ तक हक़दारों का पता चल जाए उनका माल उन्हें वापस कर दे और माल के जिस अंश के हक़दारों का पता न चले उसे सामूहिक हित के कार्यों पर ख़र्च किया जाए। यही तरीक़ा उसे अल्लाह की सज़ा से बचा सकेगा। रहा वह व्यक्ति जो पहले कमाए हुए माल से पूर्व ही की भाँति मज़े लेता रहे तो असम्भव नहीं कि अपनी इस हरामख़ोरी की सज़ा पाकर रहे।

इस आयत में एक ऐसी सच्चाई बताई गई है जो नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी पूर्णतः सत्य है और आर्थिक व सांस्कृतिक दृष्टि से भी। यद्यपि ब्याज से दौलत बढ़ती हुई दिखाई देती है और सदक़ों (दान) से घटती हुई लगती है परन्तु सत्यता यह है कि मामला इसके विपरीत है। अल्लाह का नैसर्गिक नियम यही है कि ब्याज नैतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक

एवं सांस्कृतिक प्रगति में केवल यह कि रुकावट बनता है बल्कि पतन का कारण भी बनता है। इसके विपरीत सदक़ों से (जिनमें अच्छा क़र्ज़ सम्मिलित है) नैतिकता, आध्यात्मिकता, संस्कृति एवं आर्थिक स्थिति प्रत्येक चीज़ उन्नति करती है।

नैतिक व आध्यात्मिक हैसियत से देखिए तो बात पूर्णरूप से स्पष्ट है कि ब्याज वास्तव में स्वार्थ, कन्जूसी, तंगदिली, कठोरता जैसे अवगुणों का परिणाम है और वह उन्हें ही इनसान में बढ़ाता है। इसके विपरीत सदक़ात (दस पुण्य) परिणाम है दानशीलता, हमदर्दी, विशाल हृदयता तथा उच्च स्वभाव का और सदक़ात से यही गुण इनसान में फलते-फूलते हैं। कौन है जो नैतिकता के इन दोनों संयोजनों में पहले को निकृष्ट तथा दूसरे को उत्कृष्ट न मानता हो?

सामाजिक हैसियत से देखें तो सरलता से यह बात समझ में आ जाएगी कि जिस सोसाइटी में लोग एक-दूसरे के साथ स्वार्थपरता का व्यवहार करें, कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित तथा व्यक्तिगत लाभ के बग़ैर किसी के काम न आए, एक व्यक्ति की ज़रूरतमन्दी को दूसरा अपने लिए लाभ कमाने का अवसर समझे तथा उसका पूरा फ़ायदा उठाए और सम्पन्न वर्ग का हित जनमानस के हित के एकदम उलट हो जाए ऐसी सोसाइटी कभी मज़बूत नहीं हो सकती। उसके लोगों में परस्पर प्रेमभाव के स्थान पर कटुता, ईर्ष्या तथा बेरुख़ी पनपेगी। सोसाइटी सदैव विघटन तथा बिगाड़ की ओर झुकती जाएगी। यदि दूसरे तत्व इस स्थिति के लिए सहायक हो जाएँ तो ऐसी सोसाइटी के हिस्सों का परस्पर संघर्षरत हो जाना भी कुछ कठिन नहीं है। इसके विपरीत जिस सोसाइटी की सामूहिक व्यवस्था आपसी हमदर्दी पर आधारित हो, जिसके सदस्य एक दूसरे के साथ सहृदयता का मामला करें जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की आवश्यकता के समय खुले मन से सहायता का हाथ बढ़ाए और जिसमें सम्पन्न लोग असम्पन्न लोगों से हमदर्दीवाला सहयोग या कम-से-कम न्यायसंगत सहायता की रीति अपनाएँ। ऐसी सोसाइटी में आपस की मुहब्बत, भलाई और दिलचस्पी पनपेगी, उसके हिस्से एक दूसरे से जुड़कर एक-दूसरे की शक्ति बनेंगे। उसमें आन्तरिक झगड़े और

टकराव को घुसने का अवसर न मिल सकेगा, उसमें आपसी सहयोग और भलाई के कारण उन्नति की गति पहली सोसाइटी की तुलना में बहुत तेज़ होगी।

अब आर्थिक पक्ष से देखिए। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से ऋण के दो प्रकार हैं। एक वह ऋण जो अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर ख़र्च करने के लिए मजबूर और ज़रूरतमन्द लोग लेते हैं। दूसरा वह ऋण जो व्यापार, व्यवसाय, उद्योग तथा कृषि आदि कार्यों में लगाने के लिए पेशेवर लोग लेते हैं। इसमें से पहले प्रकार के ऋण को दुनिया जानती है कि उसपर ब्याज वसूल करना अत्यन्त घातक है। विश्व का कोई देश ऐसा नहीं है जहां महाजन लोग तथा महाजनी संस्थाएँ इस माध्यम से ग़रीब मज़दूरों, किसानों तथा अल्प आय वर्ग के लोगों का ख़ून न चूस रहे हों। ब्याज के कारण ऐसे ऋणों का भुगतान करना उनके लिए अत्यन्त कठिन, बल्कि बहुधा असम्भव हो जाता है। फिर एक ऋण के भुगतान के लिए दूसरा और तीसरा ऋण लेते चले जाते हैं, मूलधन से कई गुणा सूद दे चुकने के उपरान्त भी मूल राशि ज्यों की त्यों विद्यमान रहती है। मेहनतकश के श्रम का अधिकांश भाग महाजन ले जाता है तथा उस ग़रीब की अपनी कमाई में से उसके पास अपना तथा अपने बच्चों का पेट पालने के लिए पर्याप्त रक़म शेष नहीं रहती। यह स्थिति धीरे-धीरे अपने कार्य से कार्यकर्ताओं की दिलचस्पी समाप्त कर देती है क्योंकि जब उनकी मेहनत का फल दूसरा ले उड़े तो वह कभी दिल लगाकर कार्य नहीं कर सकते। फिर सूदी ऋण के जाल में फंसे हुए लोगों को हर समय की चिन्ता और परेशानी इतना तनाव में रखती है और ग़रीबी के कारण उनके उचित भोजन तथा चिकित्सा की सुविधा नहीं मिल पातीं और उनका स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रह सकता। इसी सूदी ऋण का परिणाम यह होता है कि चन्द व्यक्ति तो लोगों का ख़ून चूस-चूसकर मोटे होते रहते हैं मगर कुल मिलाकर समूचे राष्ट्र की धनोपार्जन शक्ति अपनी क्षमता की तुलना से बहुत कम हो जाती है और अन्ततः स्वयं वह ख़ून चूसने वाले लोग भी उसकी हानियों से नहीं बच सकते, क्योंकि उनके स्वार्थ के कारण ग़रीब जनता को जो कष्ट पहुँचते हैं उससे मालदार लोगों के विरुद्ध

क्रोध तथा नफ़रत का एक बवन्डर दिलों में उठता और घुटता रहता है और किसी क्रान्तिकारी हिचकोले से जब ज्वालामुखी फटता है तो इन अत्याचारी पूँजीपतियों को अपने माल के साथ अपने जीवन और अपनी इज़्ज़त तक से हाथ धोने पड़ जाते हैं।

रहा दूसरे प्रकार का ऋण जो कारोबारी उद्देश्य से लिया जाता है तो उसपर एक निर्धारित ब्याजदर के लागू करने की अनगिनत हानियाँ हैं। उनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—

1. जो कार्य प्रचलित ब्याजदर के बराबर लाभ न ला सकते हों वह देश और समुदाय के लिए कितने ही ज़रूरी और हितकारी हो उनमें निवेश के लिए धन नहीं मिलता तथा देश के सभी वित्तीय सन्साधनों का बहाव ऐसे कार्यों की ओर मुड़ जाता है जो बाज़ार की ब्याजदर के बराबर अथवा उससे अधिक लाभ ला सकते हों चाहे सामूहिक आधार पर उनकी आवश्यकता और उनका लाभ बहुत कम हो या कुछ भी न हो।

2. जिन कार्यों के लिए ब्याज पर पूँजी मिलती है चाहे वह व्यापारिक कार्य हों या औद्योगिक या कृषि सम्बन्धी, उनमें से कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जिसमें इस बात की गारन्टी हो कि सदैव सभी परिस्थितियों में उसका लाभ एक निर्धारित स्तर जैसे 5 या 10 प्रतिशत तक या उससे ऊपर-ऊपर ही रहेगा और इससे नीचे नहीं गिरेगा। लाभ के इस स्तर की गारंन्टी होना तो दूर की बात है, किसी कारोबार में यह भी निश्चित नहीं है कि उसमें लाभ अवश्य होगा कभी हानि नहीं होगी। अतः किसी कारोबार में ऐसी पूँजी का निवेश जिसमें पूँजीपति को एक निर्धारित दर से 'लाभ' देने की गारन्टी दी गई हो हानि और जोखिम के पहलुओं से कभी ख़ाली नहीं हो सकता।

3. क्योंकि पूँजी उपलब्ध करानेवाला लाभ-हानि में सम्मिलित नहीं होता बल्कि केवल लाभ और वह भी लाभ की एक निर्धारित दर की गारन्टी पर धन देता है इस कारण व्यवसाय की भलाई और बुराई से उसको कोई दिलचस्पी नहीं होती। वह अत्यन्त स्वार्थपरता से केवल अपने लाभ पर नज़र रखता है और जब कभी तनिक भी यह आशंका होती है कि मार्केट पर मन्दी

का हमला होनेवाला है, तो वह सबसे पहले अपनी रक़म खींचने की चिन्ता करता है। इस प्रकार कभी तो केवल उसकी स्वार्थी आशंका के कारण मन्दी का आक्रमण हो ही जाता है और कभी दूसरे तत्वों से आर्थिक मन्दी आ गई तो पूँजीपति का स्वार्थ उसको बढ़ाकर अत्यन्त घातक सीमा तक पहुँचा देता है।

ब्याज के ये तीन नुक़सान तो ऐसे स्पष्ट हैं कि कोई व्यक्ति जो अर्थशास्त्र से थोड़ा-सा भी परिचित हो इनका इन्कार नहीं कर सकता। इसके बाद यह मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं कि वास्तव में अल्लाह के नैसर्गिक नियम (Natural Law) के अनुसार ब्याज आर्थिक पूँजी का बढ़ाता नहीं बल्कि घटाता है।

अब एक दृष्टि सदक़ों (दान पुण्य) के आर्थिक प्रभावों व परिणामों पर भी डाल लीजिए। अगर सोसाइटी के सम्पन्न लोगों का व्यवहार यह हो कि अपनी स्थिति के अनुसार खुले मन से अपनी ओर अपने परिवार के लोगों के लिए आवश्यक ख़रीदारी करे, फिर जो धन उनकी आवश्यकता से बच रहे उसे ग़रीबों में बाँट दे ताकि वह भी अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सके। इसके बाद भी धन बच जाए तो उसे कारोबारी व्यक्तियों को ब्याजरहित ऋण दें या साझेदारी नियम के आधार पर लाभ-हानि में साझी बन जाएँ या अतिरिक्त धन को सरकार के पास जमा करा दे ताकि सार्वजनिक सेवाओं के लिए उनका प्रयोग हो जाए। इसे देखकर हर व्यक्ति थोड़े सोच-विचार से अनुमान लगा सकता है कि ऐसी सोसाइटी में व्यापार और उद्योग और कृषि हर क्षेत्र में उन्नति होगी। उसके जनमानस की सम्पन्नता का स्तर ऊँचा उठता चला जाएगा और उसमें कुल मिलाकर धनोपार्जन (या राष्ट्रीय आय) उस सोसाइटी की तुलना में कहीं अधिक होगा जिसको ब्याज का चलन हो।

फिर एक पहलू और भी सामने रहे। स्पष्ट है ब्याज पर धन वही व्यक्ति चला सकता है जिसको धन के वितरण में उसकी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक प्राप्ति हो। यह आवश्यकता से अधिक धन जो एक व्यक्ति को प्राप्त होता है, क़ुरआन के अनुसार वास्तव में अल्लाह की अनुकम्पा (फ़ज़्ल) है और अल्लाह की अनुकम्पा की ठीक-ठीक कृतज्ञता यह है कि जिस प्रकार

अल्लाह ने अपने बन्दे पर कृपा की है उसी प्रकार बन्दा भी अल्लाह के दूसरे बन्दों के साथ मेहरबानी करे।

ब्याज का उन्मूलन और आर्थिक विकास

अब हमें इस प्रश्न पर चर्चा करनी है कि क्या वास्तव में ब्याज को समाप्त करके ऐसा वित्तीय तथा आर्थिक सिस्टम स्थापित किया जा सकता है जो वर्तमान युग में एक विकासशील समाज और राष्ट्र की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त हो।

कुछ भ्रान्तियाँ

इस प्रश्न पर चर्चा आरम्भ करने से पूर्व ज़रूरी है कि ऐसी कुछ भ्रान्तियों को स्पष्ट कर दिया जाए जो न केवल इस मामले में बल्कि व्यावहारिक सुधार के हर केस में लोगों के मस्तिष्क को उलझाया करती हैं—

सबसे पहली भ्रान्ति तो वही है जिसके आधार पर उपर्युक्त प्रश्न उत्पन्न हुआ है। विवेक की दृष्टि से ब्याज एक ग़लत चीज़ है और इस्लामी शिक्षाओं का सन्दर्भ लें तो अल्लाह और उसके सन्देशवाहक (सल्ल॰) ने प्रत्येक प्रकार के ब्याज को वर्जित घोषित किया है। इसके बाद यह पूछना कि "क्या इसके बग़ैर काम चल भी सकता है?" और "क्या यह व्यावहारिक है भी?" दूसरे शब्दों में यह कहना है कि ईश्वर की इस सृष्टि में कोई ग़लती 'अपरिहार्य' भी है और कोई उचित काम अव्यावहारिक भी पाया जाता है। यह वास्तव में ईश-सत्ता और उसकी व्यवस्था के प्रति 'अविश्वास' का वोट है। इसका अर्थ यह है कि हम एक ऐसी भ्रष्ट व्यवस्था में सांस ले रहे हैं जिसमें हमारी कुछ वास्तविक आवश्यकताएँ ग़लतियों तथा दुराचरण से जोड़ दी गई हैं तथा कुछ अच्छाइयों के द्वार जानते-बूझते हम पर बन्द कर दिए गए हैं या इससे आगे यह बात हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि प्रकृति स्वयं टेढ़ी है कि जो कुछ उसके अपने क़ानून के हिसाब से ग़लत है वही उसकी व्यवस्था में लाभदायक ज़रूरी और व्यावहारिक है और जो उसके क़ानून के हिसाब से उचित है वही उसके सिस्टम में हानिकारक और अव्यावहारिक है।

क्या वास्तव में हमारी बुद्धि और हमारा ज्ञान और हमारे इतिहास के

अनुभव प्रकृति के स्वभाव को इसी दुर्भावना के योग्य समझते हैं? क्या यह सच है कि प्रकृति बिगाड़ की पक्षधर और बनाव की दुश्मन है। अगर यह बात है तब तो हमें चीज़ों के सही और ग़लत होने की सारी जानकारियों को लपेट कर रख देना चाहिए और सीधी तरह जीवन से त्याग-पत्र दे देना चाहिए क्योंकि उसके बाद तो हमारे लिए उम्मीद की एक किरण भी इस दुनिया में शेष नहीं रहती। परन्तु यदि हमारी और कायनात की प्रकृति इस बदगुमानी के योग्य नहीं है तो फिर हमें इस सोच को छोड़ देना चाहिए कि "अमुक चीज़ है तो बुरी मगर काम उसी से चलता है" और "अमुक चीज़ है तो सही मगर चलनेवाली नहीं है।"

वास्तविक यह है कि संसार में जो रीति भी प्रचलित हो जाती है लोगों के मामले उसी से जुड़ जाते हैं और उसको बदलकर किसी दूसरी रीति को स्थापित करना कठिन दिखाई देता है। हर प्रचलित रीति की यही स्थिति है चाहे वह रीति सही हो या ग़लत। कठिनाई जो कुछ है वह परिवर्तन में है और सहूलत का कारण प्रचलन में होने के अतिरिक्त कुछ नहीं। मगर नासमझ लोग उससे धोखा खाकर यह समझ बैठते हैं कि जो ग़लती प्रचलन में आ चुकी है इनसानी मामले बस उसी पर चल सकते हैं और उसके अतिरिक्त कोई दूसरा तरीक़ा व्यावहारिक ही नहीं है।

दूसरी भ्रान्ति इस मामले में यह है कि लोग परिवर्तन की कठिनाई के वास्तविक कारणों को नहीं समझते और अनजाने में ही परिवर्तन के प्रस्ताव के सिर पर अव्यावहारिक होने का आरोप थोपने लगते हैं। अगर आप प्रचलित व्यवस्था के प्रान्त प्रत्येक प्रस्ताव को अव्यावहारिक समझेंगे तो आप इनसानी प्रयासों की सम्भावनाओं का बहुत ही त्रुटिपूर्ण आकलन करेंगे। जिस दुनिया में निजी सम्पत्ति के स्वामित्व का पूर्ण उन्मूलन करके, पूर्ण सामूहिक स्वामित्व को बढ़ावा देने जैसी अत्यन्त क्रान्तिकारी प्रस्ताव व्यवहार में लाकर दिखा दिया हो वहाँ यह कहना कितनी नासमझी है कि सूद का उल्मूलन और ज़कात की व्यवस्था जैसा न्यायोचित प्रस्ताव व्यावहारिक नहीं है। तथापि यह बात सही है कि प्रचलित व्यवस्था को परिवर्तित करके किसी दूसरे नक़्शे पर जीवन का निर्माण करना हरेक के बस का रोग नहीं है। ये

काम केवल वही लोग कर सकते हैं जिनमें दो शर्तें पाई जाती हों—

एक यह कि वे पुरानी व्यवस्था से हट चुके हों और सच्चे मन से उस प्रस्ताव पर विश्वास रखते हो जिसके अनुसार जीवन व्यवस्था में परिवर्तन करना विचाराधीन हो। दूसरे यह कि वे पुरातनवादी सोच के न होकर नई सोचवाले हो। वह मात्र उस साधारण बुद्धि के मालिक न हों जो पुरानी व्यवस्था को उसके नेताओं की भान्ति चला ले जाने के लिए पर्याप्त होती है बल्कि वे उस श्रेणी की समझ रखते हों जो लीक से हटकर नए मार्ग बनाने के लिए ज़रूरी होती है। ये दो शर्तें जिन लोगों में पाई जाती हों वह कम्यूनिज़्म, नाज़ीइज़्म और फ़ाशिज़्म जैसे कठोर क्रान्तिकारी व्यवस्थाओं तक को अमल में ला सकते हैं। और जिनमें इन दोनों शर्तों का अभाव हो वह इस्लाम द्वारा प्रस्तुत अत्यन्त सन्तुलित और मध्यमार्गी परिवर्तनों को भी लागू नहीं कर सकते।

एक छोटी-सी भ्रान्ति इस मामले में और भी है। सकारात्मक समालोचना और सुधारात्मक प्रस्ताव के उत्तर में जब कार्य का प्रारूप माँगा जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों के अनुसार कार्य की जगह काग़ज़ है, जबकि कार्य काग़ज़ पर नहीं ज़मीन पर हुआ करता है। काग़ज़ पर करने का वास्तविक कार्य तो यह है कि दलीलों और सुबूतों से वर्तमान प्रणाली के दोषों और हानियों को स्पष्ट कर दिया जाए और उनके स्थान पर जो इस्लामी सिद्धान्त प्रस्तावित है उनका औचित्य सिद्ध कर दिया जाए। इसके बाद जो समस्याएँ व्यावहारिकता से सम्बन्धित है उनके बारे में काग़ज़ पर इससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकता कि लोगों को एक सादा-सा ज्ञान इस बात का दिया जाए कि पुरानी व्यवस्था के दोषपूर्ण तरीक़ों को किस प्रकार मिटाया जा सकता है तथा उसके स्थान पर नए प्रस्तावों को किस प्रकार व्यवहार में लाया जाया जा सकता है। रहा यह प्रश्न कि इस तोड़-फोड़ और निर्माण की विस्तृत स्थिति क्या होगी और उसके बीच के चरण क्या होंगे और प्रत्येक चरण में जो समस्याएँ आएँगी उन्हें कैसे हल किया जाएगा? इन बातों का न तो कोई पूर्वानुमान कर सकता है और न कोई उत्तर दे सकता है। अगर आप इस बात पर सन्तुष्ट हो चुके हों कि वर्तमान व्यवस्था वास्तव में

दोषपूर्ण है और सुधार का प्रस्ताव बिल्कुल उचित है तो अमल के लिए क़दम उठाइए और कार्यभार ऐसे लोगों को सौंपिए जो ईमान और नवीन सोच रखते हों। फिर जो व्यावहारिक समस्या जहां उत्पन्न होगी वहीं उसका समाधान हो जाएगा। धरती पर करने का काम आख़िर काग़ज़ पर करके कैसे दिखाया जा सकता है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि इस विषय पर हम आगे जो कुछ प्रस्तुत करेंगे वह ब्याजरहित वित्त व्यवस्था की कोई विस्तृत रूपरेखा न होगी बल्कि उसकी एक सामान्य अवधारणा होगी कि ब्याज को सामूहिक वित्त व्यवस्था से निष्कासित करने की व्यावहारिक प्रक्रिया क्या हो सकती है? तथा वे बड़ी-बड़ी समस्याएँ जो ब्याज के उन्मूलन का विचार करते ही अनायास मनुष्य के सामने आ जाती है किस प्रकार हल हो सकती हैं।

सुधार के मार्ग में पहला क़दम

अर्थव्यवस्था और वित्त व्यवस्था में अनगिनत दोष इस कारण पैदा हुए हैं कि क़ानून ने ब्याज को अनुमन्य रखा है। स्पष्ट है कि जब एक व्यक्ति के लिए ब्याज का दरवाज़ा खुला हुआ है तो वह अपने पड़ोसी को ब्याजरहित ऋण क्यों दे? और एक व्यवसायी के साथ लाभ-हानि में भागीदारी को क्यों अपनाए? और अपनी सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शुद्ध मन से सहायता का हाथ क्यों बढ़ाए? और क्यों न अपनी जमा की हुई पूँजी को साहूकार के हवाले कर दे जिससे उसको घर बैठे एक लगा-बन्धा लाभ मिलने की उम्मीद हो? आप मानवीय स्वभाव की बुरी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के पश्चात् यह आशा नहीं कर सकते कि मात्र उपदेश और नैतिकता की अपीलों के द्वारा आप उनको पनपने से और उनकी हानियों को रोक सकेंगे। फिर यहाँ तो मामला इस सीमा तक सीमित नहीं है कि आपने एक बुरी सोच को खुली छुट्टी दे रखी है बल्कि इससे आगे बढ़कर आपका क़ानून तो उलटा इसका मददगार बना हुआ है और हुकूमत स्वयं उस बुराई पर आधारित वित्त व्यवस्था को पोषित कर रही है। इस परिस्थिति में यह कैसे सम्भव है कि किसी प्रकार का आंशिक संशोधन करके या तनिक सुधारात्मक उपाय करके

उसकी बुराइयों का उन्मूलन किया जा सके? उनका उन्मूलन हो सकता है तो केवल इस प्रकार कि सबसे पहले उस द्वार को बन्द किया जाए जिससे ख़राबी आ रही है।

जो लोग यह समझते हैं कि पहले कोई ब्याजरहित वित्तीय व्यवस्था बन जाए फिर सूद अपने आप बन्द हो जाएगा या उसे क़ानून द्वारा बन्द कर दिया जाएगा, वे वास्तव में घोड़े के आगे गाड़ी बान्धना चाहते हैं। जब तक सूद क़ानूनन प्रचलित है, जब तक अदालतें ब्याज के समझौतों को मान्यता देकर उनको अपनी शक्ति द्वारा लागू कर रही है, जब तक साहूकारों के लिए यह दरवाज़ा खुला है कि ब्याज का लालच देकर घर-घर से रक़म इकट्ठी करे और फिर आगे उसे सूद पर चलाएँ, उस समय तक यह सम्भव ही नहीं है कि कोई ब्याजरहित आर्थिक व्यवस्था अस्तित्व में आए और पनप सके। अतः यदि ब्याज को समाप्त करना इस बात पर निर्भर है कि पहले कोई वित्तीय प्रणाली बने और परिपक्व हो जाए जो वर्तमान सिस्टम का स्थान ले सकता हो, तो विश्वास कीजिए कि प्रलय होने तक ब्याज के बन्द होने की नौबत नहीं आ सकती। यह काम तो जब कभी करना हो इसी प्रकार करना पड़ेगा कि पहले चरण में ही ब्याज को क़ानून द्वारा बन्द कर दिया जाए फिर स्वयं ब्याजरहित सिस्टम पैदा हो जाएगा और 'आवश्यकता जो आविष्कार की जननी है' आपसे-आप उसके हर अनुभाग में बढ़ने और फैलने का मार्ग बनाती चली जाएगी।

ब्याज इनसानी मानसिकता के जिन अवगुणों का परिणाम है उनकी जड़ें इतनी गहरी और उनके कारक इतने शक्तिशाली हैं कि अधूरी कार्यवाही तथा हल्के समाधानों से इस आफ़त का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। इस उद्देश्य के लिए तो आवश्यक है कि वे सारी युक्तियाँ अपनाई जाएँ जो इस्लाम सुझाता है और उसी सरगर्मी के साथ लागू की जाए जैसा इस्लाम चाहता है। इस्लाम सूदी कारोबार की केवल नैतिक आलोचना पर बस नहीं करता बल्कि एक ओर वह उसको धार्मिक आदेश द्वारा वर्जित घोषित करके उसके विरुद्ध घृणा उत्पन्न करता है दूसरी ओर जहाँ-जहाँ सत्ता और शासन पर आधिपथ्य प्राप्त होता है वहाँ क़ानून द्वारा निषिद्ध घोषित करता है? सभी

सूदी सौदों को अमान्य ठहराता है, सूद लेने और देने और दस्तावेज़ लिखने तथा उसपर गवाह बनने को फ़ौजदारी अपराध की श्रेणी में रखकर पुलिस के हस्तक्षेप के योग्य घोषित करता है। और अगर कहीं यह सूदी कारोबार सामान्य सज़ाओं से बन्द न हो तो उसमें संलिप्त व्यक्तियों को मृत्यु दण्ड और सम्पत्ति को ज़ब्त करने की सज़ाएँ देता है। तीसरी ओर वह ज़कात (अनिवार्य दान) को अनिवार्य घोषित करके हुकूमत के द्वारा उसकी प्राप्ति एवं वितरण की व्यवस्था करके एक दूसरी वित्तीय प्रणाली को स्थापित कर देता है। इन सब उपचारों के साथ-साथ वह शिक्षा-दीक्षा तथा समझाने-बुझाने के द्वारा जनमानस का सुधार भी करता है ताकि उनके अन्तर्मन के वे अवगुण दब जाएँ जो सूद खाने का कारण बनते हैं तथा वे गुण तथा भाव पलें बढ़ें जिनसे समाज में हमदर्दी तथा सहयोग का वातावरण बनता है।

ब्याज के उन्मूलन के परिणाम

जो कोई भी वास्तव में गम्भीरता और सच्चे मन से ब्याज की समाप्ति चाहता हो उसे यह सब इसी तरह करना होगा। ब्याज पर यह क़ानूनी प्रतिबन्ध, जबकि उसके साथ ज़कात की वसूली तथा वितरण की सार्वजनिक व्यवस्था भी हो, आर्थिक दृष्टिकोण से तीन बड़े परिणाम लाएगी—

1. इसका पहला तथा महत्वपूर्ण नतीजा यह होगा कि धन के इकट्ठा होने की वर्तमान हानिप्रद स्थिति एक सही और स्वस्थ स्थिति से बदल जाएगी।

वर्तमान में तो धन इस प्रकार इकट्ठा होता है कि हमारी सामूहिक व्यवस्था कन्जूसी और माल जमा करने की प्रवृत्ति को जो इनसान में स्वाभाविक रूप से मौजूद है, अपनी कृत्रिम रीतियों से अत्यधिक बढ़ा देती है। वह इसे डर और लालच दोनों माध्यमों से इस बात पर तैयार करता है कि वह अपनी आय का कम-से-कम भाग व्यय करे और अधिक से अधिक भाग जमा (बचत) करे। वह उसे डराता है कि बचत कर क्योंकि पूरे समाज में कोई नहीं है जो तेरे बुरे समय में काम आए। वह उसे लालच देता है कि बचत कर क्योंकि इसका प्रतिफल तुझे ब्याज के रूप में प्राप्त होगा। इस

दोहरी प्रेरणा से समाज के वे लोग जो ज़रूरत से कुछ अधिक आय रखते हैं व्यय को रोकने तथा बचत करने को तत्पर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप मंडियों में व्यापारिक माल की आपूर्ति बड़ी हद तक कम हो जाती है और आय में कमी के कारण व्यापार व्यवस्था की उन्नति की सम्भावनाएँ भी उसी के अनुसार कम हो जाते हैं तथा सामूहिक पूँजी के अवसर और अधिक कम होते चले जाते हैं। इस प्रकार कुछ लोगों की बचतों के बढ़ने से सामूहिक अर्थव्यवस्था के घटने का परिणाम होता है। एक आदमी ऐसी रीति से अपनी बचत की रक़म में वृद्धि करता है जिससे हज़ार आदमी कुछ कमाने के योग्य नहीं रहते, बचत करना तो दूर की बात है।

इसके विपरीत जब ब्याज को बन्द कर दिया जाएगा तथा ज़कात का प्रबन्ध करके सरकार की ओर से समाज के हर व्यक्ति को यह विश्वास दिला दिया जाएगा कि बुरे समय पर उसकी सहायता का समुचित प्रबन्ध है तो कन्जूसी और धन को जमा करने के अस्वाभाविक कारक तथा प्रेरक समाप्त हो जाएँगे। लोग दिल खोलकर ख़ुद भी ख़र्च करेंगे और ग़रीब लोगों को भी ज़कात के द्वारा इतनी क्रय शक्ति पहुँचा देंगे कि वे ख़र्च करें। इससे व्यापार व्यवसाय बढ़ेगा जिससे रोज़गार बढ़ेगा, रोज़गार के बढ़ने से आय बढ़ेगी। ऐसे वातावरण में एक तो व्यापार तथा व्यवसाय का अपना लाभ ही इतना बढ़ जाएगा कि उसे बाहरी पूँजी की उतनी आवश्यकता शेष नहीं रहेगी जितनी अब होती है, फिर जिस सीमा तक भी उसे पूँजी की आवश्यकता होगी वह वर्तमान स्थिति की तुलना में आसानी से उपलब्ध हो सकेगी क्योंकि उस समय भी बचत करने की प्रवृत्ति पूरी तरह समाप्त नहीं होगी, जैसा कि कुछ लोगों का अनुमान है, बल्कि कुछ लोग तो अपने व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार बचत करते रहेंगे और अधिकांश लोग आय की अधिकता तथा समाज में आम ख़ुशहाली के कारण बचत करने पर मजबूर होंगे। उस समय यह बचत किसी कन्जूसी या डर या लालच के कारण न होगी, बल्कि उसकी वजह केवल यह होगी कि जो लोग अपनी ज़रूरत से अधिक कमाएँगे इस्लाम की जायज़ की हुई मदों पर दिल खोलकर ख़र्च करने के बाद भी उनके पास बहुत कुछ बचा रहेगा, इसी बची हुई दौलत को

लेनेवाला कोई मुहताज उनको न मिलेगा, इसी लिए वे उसे डाल रखेंगे और अपनी शर्तों पर अपनी सरकार को अपने देश के व्यापार, व्यवसाय को और पड़ोसी देशों को धन देने को तैयार हो जाएँगे।

2. दूसरा परिणाम यह होगा कि इकट्ठी हुई पूँजी रुकने के स्थान पर चलने की ओर अग्रसर रहेगी तथा अर्थव्यवस्था की 'खेतियों' को उनकी आवश्यकतानुसार तथा समयानुसार 'पानी' मिलता चला जाएगा। वर्तमान सिस्टम में पूँजी को व्यवसाय की ओर जाने के लिए जो चीज़ तैयार करती है वह सूद का लालच है, मगर यही चीज़ उसके रुकने का कारण भी बनती है क्योंकि पूँजी अधिकांशतः इस प्रतीक्षा में रुकी रहती है कि ब्याजदर अधिक मिले तो वह काम में लगे। यही चीज़ पूँजी के स्वभाव को कारोबार के स्वभाव से विमुख भी कर देती है। जब कारोबार चाहता है कि पूँजी आए तो पूँजी अकड़ जाती है और अपनी शर्तों में कठोरता लाती चली जाती है तथा जब मामला विपरीत होता है तो पूँजी क़ारोबार के पीछे दौड़ती है तथा हल्की शर्तों पर प्रत्येक अच्छे-बुरे कार्य में लगने को तैयार हो जाती है। परन्तु जब सूद का दरवाज़ा क़ानून द्वारा बन्द हो जाएगा और सभी जमा राशियों पर उलटा ढाई प्रतिशत वार्षिक ज़कात लगनी शुरू हो जाएगी तो पूँजी का यह बिगड़ा हुआ स्वभाव समाप्त हो जाएगा। वह स्वयं चाहेगी कि उचित शर्तों पर शीघ्रता-शीघ्र किसी कारोबार में लग जाए तथा ठहरने के बजाय हमेशा कारोबार ही में लगी रहे।

3. तीसरा नतीजा यह होगा कि 'व्यावसायिक वित्त' तथा 'ऋण कोष' यह दोनों मदें अलग-अलग हो जाएँगी। वर्तमान में पूँजी की आपूर्ति अधिकांशतः 'ऋण' के रूप में होती है चाहे ऋण लेनेवाला पूँजी को उपभोग के लिए ले या लाभकारी कार्य के लिए ले, चाहे अल्पकालीन आवश्यकता के लिए ले या दीर्घकालीन योजना के लिए, प्रत्येक स्थिति में पूँजी केवल एक ही शर्त पर मिलती है और वह यह है कि एक निर्धारित ब्याजदर पर उसे ऋण के रूप में प्राप्त किया जाए। परन्तु जब ब्याज प्रतिबन्धित हो जाएगा तो ऋण की मद केवल अलाभकारी कार्यों के लिए ही रह जाएगी तथा उसका प्रबन्ध 'ब्याजरहित ऋण' के सिद्धान्त पर करना होगा। रहे दूसरे उद्देश्य चाहे

वे व्यापार तथा व्यवसाय से सम्बन्धित हों या सरकारों तथा सार्वजनिक संस्थाओं की लाभकारी योजनाओं से सम्बन्धित हों उन सब में पूँजी की आपूर्ति ऋण के स्थान पर लाभ-हानि में भागेदारी (Profit and Loss Sharing) के सिद्धान्त पर होगी।

अब हम संक्षेप में बताएँगे कि वित्त की ब्याजरहित व्यवस्था में यह दोनों चीज़ें किस प्रकार कार्य कर सकती हैं।

ब्याजरहित वित्त प्रणाली में ऋण की उपलब्धता की रीतियाँ

पहले ऋण को लीजिए क्योंकि लोग सबसे बढ़कर इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि ब्याज के बन्द होने से क़र्ज़ मिलना बन्द हो जाएगा। अतः हम पहले यही बताएँगे कि ब्याज से ऋण की उपलब्धता बन्द नहीं होगी बल्कि वर्तमान की तुलना में अधिक सरल और बेहतर होगी।

व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए

वर्तमान सिस्टम में व्यक्तिगत ज़रूरतों के लिए ऋण उपलब्धता की मात्र एक रीति है कि ग़रीब आदमी महाजन से और जायदाद वाला बैंक से ब्याज पर ऋण प्राप्त करे। दोनों परिस्थितियों में ऋण चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक उद्देश्य के लिए प्रत्येक मात्रा में धन मिल सकता है, यदि वह महाजन या बैंक को मूलधन और ब्याज के मिलते रहने का विश्वास दिला सकता हो, चाहे पाप के कार्यों या अपव्यय के लिए हो अथवा वास्तविक ज़रूरतों के लिए। इसके विपरीत ऋण चाहनेवाला कहीं से एक पैसा भी नहीं पा सकता यदि वह मूलधन और ब्याज मिलने का विश्वास न दिला सकता हो चाहे उसके घर में एक शव ही अन्तिम संस्कार के लिए पड़ा हो। फिर वर्तमान सिस्टम में किसी ग़रीब की मुसीबत और किसी अमीरज़ादे की आवारगी दोनों ही साहूकार के लिए कमाई के अवसर हैं और इस स्वार्थ के साथ पत्थरदिली का यह हाल है कि जो व्यक्ति सूदी क़र्ज़ के जाल में फंस चुका है उसके साथ न सूद वसूलने में कोई रियायत है और न मूलधन में। कोई यह देखने के लिए दिल नहीं रखता कि जिस व्यक्ति से हम मूल और सूद की माँग कर रहे हैं वह बेचारा किस विकट परिस्थिति में है। यह हैं वह 'आसानियाँ' जो

प्रचलित सिस्टम में व्यक्तिगत ऋणों के सम्बन्ध में है। अब देखिए कि इस्लाम का ब्याजरहित सदक़े (पुण्य) पर आधारित सिस्टम व्यक्तिगत ऋण की व्यवस्था किस प्रकार करती है।

सर्वप्रथम इस सिस्टम में फ़ुज़ूलख़र्चियों तथा गुनाह के कामों के लिए ऋण का द्वार बन्द हो जाएगा क्योंकि वहाँ सूद के लालच में बेजा ऋण देनेवाला कोई न होगा। इस परिस्थिति में ऋण का सारा लेन-देन आपसे-आप केवल उचित व वास्तविक आवश्यकताओं तक सीमित हो जाएगा तथा उतना ही धन लिया और दिया जाएगा जो विभिन्न व्यक्तिगत परिस्थितियों में स्पष्ट रूप से मुनासिब लगेगा।

फिर क्योंकि उस सिस्टम में ऋणी से किसी प्रकार का लाभ लेना ऋणदाता के लिए जायज़ न होगा इसलिए ऋणों की वापसी अधिक सरल हो जाएगी। अल्प आयवाला व्यक्ति भी थोड़ी-थोड़ी क़िस्तें देकर ऋण के भार से शीघ्र और आसानी से मुक्त हो सकेगा। जो व्यक्ति ज़मीन, मकान अथवा कोई अन्य जायदाद गिरवी रखेगा उसकी आय ब्याज में खपने के बजाय 'मूल' में से घटेगी और इस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र ऋण की वापसी हो जाएगी। इतनी आसानियों के बाद भी अगर कोई ऋण अदा होने से रह जाएगा तो राज्य का कोष सहायतार्थ मौजूद होगा और यदि ऋणी कुछ छोड़े बिना मर जाए तब भी राजकोष क़र्ज़ अदा करने का ज़िम्मेदार होगा। इन कारणों से सम्पन्न लोगों के लिए अपने किसी ज़रूरतमन्द पड़ोसी की ज़रूरत पर उसे ऋण देना उतना कठिन और अरुचिकर कार्य न रहेगा जितना अब मौजूदा सिस्टम में है।

इसपर भी अगर किसी व्यक्ति को उसके मुहल्ले या बस्ती में ऋण न मिले तो राजकोष का द्वार उसके लिए खुला होगा, वह जाएगा और वहाँ से आसानी के साथ ऋण प्राप्त कर लेगा। परन्तु यह स्पष्ट रहना चाहिए कि राजकोष से मदद इन कार्यों के लिए अन्तिम विकल्प है। इस्लामी दृष्टिकोण से व्यक्तिगत आवश्यकताओं में एक दूसरे को ऋण देना समाज के लोगों का कर्तव्य है और एक समाज में 'स्वास्थ्य' का पैमाना यही है कि लोग अपने नैतिक उत्तरदायित्व को स्वयं महसूस करें और निभाते रहें। यदि किसी बस्ती

का निवासी अपने पड़ोसियों से ऋण नहीं प्राप्त करता तथा मजबूर होकर 'राजकोष' का रुख़ करता है तो यह स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत है कि उस बस्ती का वातावरण बिगड़ गया है। इसलिए जब इस प्रकार का कोई मामला 'राजकोष' में पहुँचेगा वहाँ केवल उस व्यक्ति की ज़रूरत ही पूरी करने पर संतोष नहीं कर लिया जाएगा बल्कि तुरन्त 'नैतिक स्वास्थ्य रक्षक विभाग' को इस 'घटना' की सूचना दी जाएगी और वह उस 'बीमार' बस्ती की ओर ध्यान देगा जिसके निवासीगण अपने एक पड़ोसी के उसकी आवश्यकता के समय काम न आ सके। इस तरह की घटना का समाचार एक अच्छी नैतिक व्यवस्था में वही बेचैनी पैदा करेगा जो हैज़ा या प्लेग की किसी घटना का समाचार भौतिकवादी व्यवस्था में पैदा करता है।

व्यक्तिगत ऋणों की उपलब्धता का एक और तरीक़ा इस्लामी व्यवस्था में अपनाया जा सकता है वह यह है कि सभी व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर उनके कर्मचारियों और मज़दूरों के जो कम-से-कम अधिकार हैं क़ानूनी रूप से निर्धारित किए गए हैं उनमें एक अधिकार यह भी हो कि वह उन्हें विशेष परिस्थिति में ऋण दे दिया करें। सरकार स्वयं भी अपने ऊपर अपने कर्मचारियों का यह हक़ स्वीकार करे। यह मामला वास्तव में केवल नैतिकता का नहीं बल्कि इसका आर्थिक व राजनैतिक महत्व भी उतना ही है जितना कि नैतिक महत्व है। आप अपने कर्मचारियों तथा मज़दूरों को ब्याजरहित ऋण देंगे तो मात्र पुण्य का कार्य ही नहीं करेंगे, बल्कि आप उन कारकों में से एक कारक को दूर करेंगे जो आपके कामगारों को चिन्ता, अवसाद तथा भौतिक बर्बादी में डालते हैं। इन मुसीबतों से उन्हें बचाइए। उनका मानसिक सन्तोष उनकी कार्य क्षमता को बढ़ाएगा और उन्हें बिगाड़ से बचाएगा। इसका लाभ चाहे खाता-बही में कुछ भी न हो परन्तु जिसे बुद्धि की दृष्टि उपलब्ध हो वह सरलता से देख सकता है कि कुल मिलाकर पूरा समाज ही नहीं बल्कि अलग-अलग एक-एक पूँजीपति और कारख़ानेदार के लिए भी और एक-एक आर्थिक इकाई के लिए भी इसका लाभ उस सौदे से बहुत अधिक मूल्यवान होगा जो आज भौतिकवादी व्यवस्था में केवल मूर्खता और तंगनज़री के आधार पर वसूल किया जा रहा है।

व्यावसायिक उद्देश्य के लिए

इसके पश्चात उन ऋणों का मामला लीजिए जो व्यापारियों को दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं के लिए चाहिएँ। वर्तमान में इन उद्देश्यों के लिए या तो बैंकों से सीधे अल्पकालीन ऋण प्राप्त किए जा सकते हैं या फिर हुन्डियाँ (Bills of Exchange) प्रयुक्त की जाती हैं। दोनों ही परिस्थितियों में बैंक ब्याज लगाते हैं। यह व्यापार की ऐसी आवश्यकता है जिसके बग़ैर आज कोई काम नहीं चल सकता। इसलिए जब कारोबारी लोग ब्याज के बन्द होने का नाम सुनते हैं तो उन्हें सबसे पहले यह चिन्ता होती है कि फिर दिन-प्रतिदिन की इन आवश्यकताओं के लिए ऋण कैसे मिलेगा? अगर बैंक को ब्याज का लालच न हो तो वह हमें क्यों ऋण देगा और क्यों हमारी हुन्डियाँ भुनाएगा?

यहाँ सवाल यह पैदा होता है कि जिस बैंक के पास ब्याजरहित जमाराशियाँ (Deposits) हों तथा जिसके पास व्यापारियों की भी भारी धनराशि बिना ब्याज रखी रहती हो वह क्यों न उनको अल्पकालीन ऋण ब्याजरहित दे तथा उनकी हुन्डियाँ भुनाए। अगर बैंक सीधी तरह इस पर सहमत न हो तो क़ानून द्वारा उसको मजबूर किया जाएगा। बैंक अपने ग्राहकों को यह सेवा प्रदान करे यह चीज़ उसके उत्तरदायित्व में सम्मिलित होनी चाहिए।

रहा यह प्रश्न कि अगर इस लेन-देन में बैंक को ब्याज न मिले तो वह ख़र्चे कैसे पूरे करेगा? इसका उत्तर यह है कि जब चालू खातों (Current Accounts) की समस्त धनराशि बैंक के पास ब्याजरहित जमा रहेंगी तो उसके लिए उन्हीं रक़मों में से कम अवधि के ऋण ब्याजरहित देना कोई हानिकारक मामला न रहेगा। क्योंकि इस परिस्थिति में बैंक को जो थोड़ी-बहुत कार्यालयी लागत वहन करना होगी उससे अधिक लाभ वह उन रक़मों से प्राप्त कर लेगा जो उसके पास जमा हेंगी। फिर अगर यह रीति व्यावहारिक न हो तो इसमें भी कोई आपत्ति नहीं कि बैंक अपनी इस सेवा के लिए एक मासिक या अर्द्धवार्षिक शुल्क अपने सभी व्यावसायिक ग्राहकों

पर लागू कर दे। ब्याज की तुलना में यह शुल्क उनको अधिक सस्ता पड़ेगा इसलिए वे इसे सहर्ष गवारा कर लेंगे।

सरकार की अलाभकारी योजनाओं के लिए

तीसरी महत्वपूर्ण मद उन ऋणों की है जो सरकारों को कभी दैवी आपदाओं के लिए, कभी अलाभकारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के लिए तथा कभी युद्ध के लिए लेने होते हैं। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में इन सब उद्देश्यों के लिए ऋण और वह भी ब्याजवाले ऋण के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु इस्लामी व्यवस्था में निश्चित रूप से ऐसा होगा कि इधर सरकार ने अपनी आवश्यकता का समाचार जारी किया उधर देश के लोग तथा संस्थाएँ स्वयं लाकर चन्दे के ढेर लगा दें। इसलिए कि ब्याज पर प्रतिबन्ध तथा ज़कात की व्यवस्था लोगों को आर्थिक रूप से सन्तुष्ट कर देगी कि उन्हें अपनी बचत अपनी सरकार को ऐसे यूँ ही देने में कोई झिझक न होगी। इस पर भी अगर ज़रूरत के अनुसार धन न मिल सके तो सरकार ऋण माँगेगी और लोग दिल खोलकर ब्याजरहित ऋण देंगे। परन्तु यदि फिर भी आवश्यकता पूर्ण न हो सके तो सरकार अपना काम चलाने के लिए निम्नलिखित रीतियाँ अपना सकती है—

(1) ज़कात आदि की रक़में।

(2) सभी बैंकों से उनकी जमा राशियों का एक निश्चित भाग ऋण के रूप में माँग ले।

(3) अन्तिम विकल्प यह है कि नोट छापकर काम चला ले जो वास्तव में नागरिकों से ऋण लेने जैसा ही है। परन्तु, यह अन्तिम समाधान है जो अपरिहार्य परिस्थितियों में अपनाया जा सकता है क्योंकि इसमें बड़े खोट और जोखिम हैं।

लाभकारी उद्देश्यों के लिए पूँजी की उपलब्धता

ऋण आधारित वित्त व्यवस्था के पश्चात् अब यह भी देख लीजिए कि हमारे समक्ष जो (वैकल्पिक) प्रणाली है उसमें व्यावसायिक वित्त का स्वरूप

क्या होगा। इस सम्बन्ध में जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि ब्याज पर प्रतिबन्ध लोगों के लिए यह दरवाज़ा तो पूर्ण रूप से बन्द कर देगा कि वे श्रम तथा जोखिम (Risk) दोनों से बचकर अपनी पूँजी को सुरक्षा एवं पूर्वनिर्धारित प्रतिफल की गारन्टी के साथ किसी काम में लगा सकें। और इसी प्रकार ज़कात उनके लिए उस दरवाज़े को भी बन्द कर देगी कि वे अपना धन रोक रखे और उसपर 'माया का साँप' बनकर बैठ जाएँ। फिर यह कि एक सही इस्लामी सरकार की मौजूदगी में लोगों के लिए अय्याशियों तथा फ़ुज़ूलख़र्चियों का दरवाज़ा भी खुला न रहेगा कि उनकी अतिरिक्त आय उधर बह निकले। इसके पश्चात् उन तमाम लोगों को जो आवश्यकता से अधिक धन रखते हों तीन रास्तों में से कोई एक रास्ता ही अपनाना पड़ेगा।

(1) अगर वह और अधिक आय के इच्छुक न हों तो अपनी बचत को जनकल्याण के कार्यों में व्यय करें। उसका तरीक़ा यह हो सकता है कि स्वयं किसी अच्छे कार्य के लिए वक़्फ़ (समर्पित) कर दें या राष्ट्रीय और सामुदायिक संस्थाओं को चन्दा दे दें या फिर निस्वार्थ भाव से इस्लामी हुकूमत के हवाले कर दें ताकि वे उसे जनकल्याण तथा सार्वजनिक विकास और जनता के उत्थान के कार्यों पर व्यय करे। अन्तिम विकल्प को प्राथमिकता दी जाएगी यदि सरकार का संचालन ऐसे लोगों के हाथ में हो जिनकी ईमानदारी एवं बुद्धिमत्ता पर सामान्य रूप से लोगों को भरोसा हो। इस प्रकार सार्वजनिक प्रयोजनों एवं विकास व कल्याण के कार्यों के लिए सरकार को तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं को धन की एक बड़ी मात्रा हमेशा निशुल्क मिलती रहेगी जिसका ब्याज और लाभ तो दूर, मूल राशि का भुगतान करने के लिए भी जनता पर टैक्स का कोई भार न पड़ेगा।

(2) यदि वे आमदनी के इच्छुक तो न हों मगर अपने अतिरिक्त धन को सुरक्षित रखना चाहते हों तो उसे बैंक में जमा करा दें और उसे 'अमानत' में रखने के बजाय अपने ज़िम्मे ऋण के रूप में ले। इस स्थिति में बैंक के लिए आवश्यक होगा कि इस जमा को माँगने पर (On Demand) पर अथवा निर्धारित अवधि पर उन्हें वापस कर दे। बैंक को यह अधिकार प्राप्त होगा कि 'क़र्ज़' की इस रक़म को कारोबार में लगाए तथा लाभ प्राप्त करे। इस

लाभ में से कोई भाग उसे खातेदारों को देना न होगा बल्कि वह पूर्णरूप से बैंक का लाभ होगा। इमाम अबू हनीफ़ा के व्यापार में इस इस्लामी सिद्धान्त का उदाहरण मिलता है। उनकी ईमानदारी तथा असाधारण साख के कारण लोग अपना धन उनके पास सुरक्षा की दृष्टि से रखवाते थे। इमाम साहब इस धन को 'अमानत' के बजाय 'क़र्ज़' के रूप में लेते और उसे अपने व्यापारिक कार्यों में प्रयुक्त करते थे। इस्लामी सिद्धान्त यह है कि अगर कोई व्यक्ति किसी के पास 'अमानत' रखवाए तो अमानत रखनेवाला उसे प्रयोग में 'नहीं' ला सकता परन्तु यदि अमानत नष्ट हो जाए तो हरजाना भी नहीं देना होता। इसके विपरीत यदि वही माल 'ऋण' के रूप में दिया जाए तो 'ऋणी' को उसे प्रयोग करने एवं लाभ कमाने का अधिकार है। हाँ समय पर ऋण लौटाने का उसपर उत्तरदायित्व है इसी नियम के अनुसार अब भी बैंक कार्य कर सकते हैं।

(3) यदि वे अपनी बचत की धनराशि को किसी लाभकारी कार्य में लगाने के इच्छुक हों तो उनके लिए इसके एक ही रास्ता खुला होगा वह यह कि अपनी पूँजी को लाभ-हानि समानुपातिक साझेदारी के सिद्धान्त पर लाभ देनेवाले कामों में लगाएँ चाहे सरकारी माध्यम से या बैंकों के माध्यम से। स्वयं लगाना चाहेंगे तो उन्हें किसी व्यवसाय में साझेदारी की शर्तें आप तय करनी होंगी, जिनमें नियमानुसार इस बात को तय करना ज़रूरी होगा कि पक्षकारों के बीच लाभ-हानि का बँटवारा किस अनुपात में होगा। इसी प्रकार संयुक्त पूँजी कम्पनियों में भी हिस्सेदारी का स्वरूप केवल यह होगा कि साधारण अंश (Equity Shares) क्रय किए जाएँ। बाँड, डिबेन्चर और इस तरह की दूसरी चीज़ें जिनमें निवेशक को कम्पनी से एक लगी-बन्धी आय प्राप्त होती है सिरे से मौजूद ही न होंगी।

वर्तमान व्यवस्था की भाँति उस व्यवस्था में भी निवेशक के लिए सबसे भरोसे योग्य रीति यही है कि लोग बैंकों के माध्यम से अपनी पूँजी लाभकारी कार्यों में लगाएँ। इसलिए हम उसकी कुछ विस्तार से चर्चा करना चाहते हैं ताकि लोगों के सामने इस बात का स्पष्ट चित्र आ जाए कि ब्याज की समाप्ति के पश्चात् बैंकिंग व्यवसाय किस प्रकार चल सकता है तथा लाभ

कमाने के इच्छुक उससे किस प्रकार लाभान्वित हो सकते हैं।

इस्लामी बैंकिंग

बैंकिंग से सम्बन्धित हमारा दृष्टिकोण यह है कि यह काम अपने आपमें ग़लत या नाजायज़ नहीं है। वास्तव में बैंकिंग भी वर्तमान सभ्यता की विकसित की हुई बहुत-सी चीज़ों की भाँति एक ऐसी महत्वपूर्ण लाभप्रद चीज़ है जिसको एक शैतानी तत्व के घुस आने ने गन्दा कर रखा है। बैंक एक तो ऐसी अनेक सेवाएँ प्रदान करता है जो वर्तमान युग की सामाजिक तथा व्यापारिक आवश्यकताओं के अंग भी हैं और अपरिहार्य भी जैसे फन्ड ट्रान्सफ़र, विदेशी लेन-देन में सुविधा पहुँचाना, मूल्यवान वस्तुओं की सुरक्षा करना, साख-पत्र (Letters of Credit) व यात्री-चेक जारी करना, कम्पनियों के शेयरों की बिक्री का प्रबन्ध करना और अनेक ऐसी सेवाएँ प्रदान करना जिन्हें थोड़े से कमीशन पर बैंक के सुपुर्द करके आज एक व्यस्त आदमी बहुत से झंझटों से मुक्त हो जाता है। यह ऐसे कार्य हैं जिन्हें बहरहाल जारी रहना चाहिए तथा उनके लिए एक अलग संस्था का होना आवश्यक है। फिर यह बात भी ज़रूरी है कि समाज का अतिरिक्त धन बिखरा हुआ रहने के बजाय व्यापार, व्यवसाय, कृषि तथा अर्थव्यवस्था के प्रत्येक भाग के लिए एक केन्द्रीय भंडार में इकट्ठा हो और वहाँ से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को आसानी से हर समय तथा हर स्थान पर उपलब्ध हो सके। इसके साथ ही आम लोगों के लिए भी इसमें बड़ी सुविधा है कि जो थोड़ा-बहुत धन उनकी आवश्यकता से बचा रहता है उसे वे किसी लाभकारी काम में लगाने के अवसर अलग-अलग ढूँढ़ते फिरने के बजाय सब उसको एक केन्द्रीय भण्डार में जमा कर दिया करें और एक भरोसेमन्द रीति से सामूहिक तौर पर उन सब धनराशियों का विनियोग तथा प्राप्त लाभ के वितरण का समुचित प्रबन्धन होता रहे। फिर लगातार वित्त का कार्य करते रहने के कारण बैंक के प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों को इस कार्य में ऐसी निपुणता तथा गहरी दृष्टि प्राप्त हो जाती है जो व्यापारियों, उद्योगपतियों तथा अन्य आर्थिक क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को नहीं मिल पाती। यह विशेषज्ञता एवं निपुणता अपने आपमें एक बहुमूल्य चीज़ है और बड़ी लाभकारी सिद्ध हो सकती है अगर यह मात्र

साहूकार के स्वार्थ का हथियार बनकर न रहे, बल्कि कारोबारी लोगों के साथ सहयोग में प्रयुक्त हो। परन्तु बैंकिंग के इन गुणों और फ़ायदों को जिस चीज़ ने उलट का पूरे समाज के लिए बुराइयों तथा बिगाड़ से बदल दिया है वह ब्याज है। और उसके साथ बिगाड़ की दूसरी बुनियाद यह हो गई है कि ब्याज के आकर्षण से जो पूँजी खिंच-खिंचकर बैंकों में इकट्ठा हो जाती है वह व्यवहारतः कुछ स्वार्थी पूँजीपतियों की दौलत बनकर रह जाती है जिसे वे समाज के हितों के प्रतिकूल (Anti Social) रीतियों से प्रयोग में लाते हैं। इन दो दोषों को यदि दूर कर दिया जाए तो बैंकिंग एक स्वच्छ काम भी हो जाएगा, समाज के लिए वर्तमान की तुलना में बहुत अधिक हितकारी भी होगा और सम्भव है साहूकारों के लिए भी सूद खाने की तुलना में यह दूसरी शुद्ध पद्धति आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक लाभप्रद सिद्ध हो।

जो लोग यह सोचते हैं कि ब्याज निषेध के बाद बैंकों में पूँजी एकत्रीकरण ही बन्द हो जाएगा वह भ्रम में है। वह समझते हैं कि जब ब्याज प्राप्ति की आशा ही न होगी तो लोग क्यों अपनी बचत बैंक में रखवाएँगे, जबकि उस समय ब्याज की नहीं बल्कि लाभ मिलने की उम्मीद होगी और क्योंकि लाभ की सम्भावना निर्धारित और सीमित नहीं होगी इसलिए सामान्य ब्याजदर की तुलना में कम लाभ प्राप्त करने की जितनी सम्भावना होगी उतनी ही अधिक लाभ प्राप्त करने की भी होगी। इसके साथ बैंक वे सभी सेवाएँ प्रदान करते रहेंगे जिनके लिए अब भी बैंक से सम्पर्क किया जाता है। अतः यह निश्चित है कि जिस मात्रा में अब पूँजी बैंकों के पास आती है उसी मात्रा में ब्याज निषेध के बाद भी आती रहेगी। बल्कि उस समय प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय में उन्नति होगी, रोज़गार बढ़ जाएगा तथा आय भी बढ़ेगी इसलिए वर्तमान की तुलना में कहीं अधिक बचतें बैंकों में जमा होंगी।

इस जमा राशि (Deposit) का जितना भाग चालू खाते (Current Account) में जमा होगा उसको तो बैंक किसी लाभकारी स्कीम में न लगा सकेंगे, जिस तरह अब भी नहीं लगा सकते। इसलिए वह रक़म अधिकांशतः दो बड़े कामों में प्रयुक्त होगी—एक दिन-प्रतिदिन का नक़द लेन-देन—दूसरे

व्यावसायियों को अल्पकालीन ब्याजरहित ऋण प्रदान करने तथा हुन्डियों को भुनाने (Discounting of Bills of Exchange) में।

रही वह पूँजी जो दीर्घकाल के लिए बैंकों में रखी जाएगी तो वह मात्र दो प्रकार की होगी। एक वह जिसके मालिक केवल अपने धन की सुरक्षा चाहते हैं। ऐसे लोगों के माल को बैंक ऋण के रूप में लेकर स्वयं व्यापार में प्रयुक्त कर सकते हैं, जैसा कि हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। दूसरा वह धन जिसके स्वामी अपने माल को बैंकों के माध्यम से व्यापार व्यवसाय में लगाना चाहते हैं। उनके माल को 'अमानत' में रखने के बजाय हर बैंक को उनके साथ साझेदारी का अनुबन्ध करना होगा। फिर बैंक उस पूँजी को अपनी दूसरी पूँजी के साथ मुज़ारबत (Mudharba-Sleeping Partnership) के उसूलों पर व्यापारिक गतिविधियों में, उत्पादन की स्कीमों में, कृषि कार्यों में तथा सार्वजनिक व सरकारी लाभकारी कार्यों में लगा सकेंगे। इससे कुल मिलाकर दो बहुत बड़े लाभ होंगे। एक यह कि साहूकार का हित कारोबार के हित के साथ जुड़ जाएगा इसलिए कारोबार की आवश्यकतानुसार पूँजी उसका सहयोग करती रहेगी और वे कारक लगभग समाप्त हो जाएँगे जिनके कारण वर्तमान ब्याज आधारित दुनिया में मन्दी के दौरे पड़ा करते हैं। दूसरे यह कि साहूकार की वित्तीय मामलों की समझ तथा कारोबारी लोगों की व्यापारिक एवं औद्योगिक समझ, जो आज आपस में संघर्षरत है उस समय एक दूसरे के साथ सहयोग एवं सहकारिता करेंगी और यह सभी के लिए हितकारी होगा। फिर जो लाभ इन माध्यमों से बैंकों को प्राप्त होगा उसको वे अपनी प्रबन्धकीय लागत निकालने के बाद एक निर्धारित अनुपात में अपने तथा खाताधारकों में वितरित कर देंगे। इस मामले में अन्तर यह होगा कि इस समय लाभांश (Dividend) बैंकों के अंशधारियों में वितरित होता है तथा खाताधारकों को ब्याज दिया जाता है। उस समय दोनों में लाभ का बँटवारा होगा। अब खाताधारकों को एक निर्धारित दर से ब्याज मिला करता है उस समय 'दर' का निर्धारण न होगा बल्कि जितना भी लाभ होगा चाहे कम हो या अधिक, वह सब एक अनुपात के साथ विपरित होगा। हानि तथा दिवाला का जितना जोखिम अब है उतना ही उस समय भी होगा। अब

जोखिम तथा उसकी तुलना में असीमित लाभ की सम्भावना दोनों केवल बैंक के हिस्सेदारों के लिए ही हैं, उस समय यह दोनों चीज़ें खाताधारकों तथा हिस्सेदारों (अंशधारियों) दोनों के लिए समान हो जाएँगी।

रह गई यह बात कि लाभ के आकर्षण से जो धन उनके पास इकट्ठा होता है केन्द्रित शक्ति पर व्यावहारतः कुछ लोग क़ाबिज़ होते हैं तो उसके तोड़ के लिए केन्द्रीय बैंकिंग (Central Banking) का कार्य सरकार अपने हाथ में रखे तथा क़ानून द्वारा सभी निजी बैंकों पर सरकारी नियन्त्रण इस सीमा तक स्थापित कर दिया जाए कि साहूकार अपनी वित्तीय शक्ति का अनुचित प्रयोग न कर सकें।

ब्याजरहित वित्त व्यवस्था की यह संक्षिप्त रूप-रेखा जो हमने प्रस्तुत की है क्या उसे देखने के पश्चात् भी यह आशंका शेष रह जाती है कि ब्याज निषेध व्यावहारिक नहीं हैं?

अध्याय-7

ज़कात

(1) ज़कात की वास्तविकता

नमाज़ (ईश-पूजा) के पश्चात् इस्लाम का सबसे बड़ा स्तम्भ ज़कात (दान) है। साधारणतया इस्लामी इबादतों के सम्बन्ध में नमाज़ के बाद रोज़े (उपवास) का नाम लिया जाता है इसलिए लोग यह समझने लगे हैं कि नमाज़ के बाद रोज़े का नम्बर है परन्तु क़ुरआन से हमको ज्ञात होता है कि इस्लाम में नमाज़ के बाद सबसे अधिक ज़कात का महत्व है। ये दो बड़े स्तम्भ हैं जिन पर इस्लाम रूपी भवन खड़ा है। इनके हटने के पश्चात् इस्लाम खड़ा नहीं रह सकता।

ज़कात का अर्थ

ज़कात का अर्थ है—पवित्रता तथा स्वच्छता। अपने धन में से एक अंश ज़रूरतमन्दों तथा मुहताजों के लिए निकालने को ज़कात इसलिए कहा गया है कि इससे मनुष्य का माल तथा माल के साथ स्वयं मनुष्य का अन्तर्मन शुद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति ईश्वर द्वारा दी गई दौलत में से उसके बन्दों का हक़ नहीं निकालता उसका माल अपवित्र है तथा माल के साथ उसका मन भी अपवित्र है क्योंकि उसके मन में अकृतज्ञता भरी हुई है। उसका दिल इतना तँग है इतना स्वार्थी है, इतना धन का पुजारी है कि जिस अल्लाह ने उसको उसकी आवश्यकता से अधिक दौलत देकर उसपर एहसान किया उसके एहसान का हक़ देते हुए उसका दिल दुखता है ऐसे व्यक्ति से क्या उम्मीद की जा सकती है कि वह दुनिया में कोई नेकी भी अल्लाह के लिए कर सकेगा और कोई त्याग भी केवल अपने धर्म तथा अपनी आस्था के लिए करेगा। इसलिए ऐसे व्यक्ति का दिल भी नापाक और उसका वह माल भी नापाक जिसे वह इस प्रकार जमा करता है।

ईशदूतों का आदर्श

प्राचीन युग से सभी ईशदूतों की उम्मतों को नमाज़ तथा ज़कात का आदेश अनिवार्य रूप से दिया गया है और धर्म कभी भी इन दो चीज़ों से ख़ाली नहीं रहा। ईशदूत हज़रत इबराहीम तथा उनकी नस्ल के ईशदूतों का उल्लेख करके क़ुरआन में बताया गया है–

> "और हमने उन्हें नायक बनाया कि वे हमारे आदेश से मार्ग दिखाते थे और हमने उनकी ओर नेक कर्म करने और नमाज़ की पाबन्दी करने और ज़कात देने की प्रकाशना की, और वे हमारी बन्दगी में लगे हुए थे।" (क़ुरआन, सूरा-21 अंबिया, आयत-73)

ईशदूत हज़रत इस्माईल के सम्बन्ध में है–

> "और वह अपने लोगों को नमाज़ और ज़कात का हुक्म देते थे, और वह अपने रब की दृष्टि में पसन्दीदा व्यक्ति थे।
> (क़ुरआन, सूरा-19 मरयम, आयत-55)

हज़रत मूसा ने अपनी क़ौम के लिए अल्लाह से प्रार्थना की कि हमें इस लोक की भलाई दे और परलोक की भी भलाई दे। इस प्रार्थना के उत्तर में अल्लाह ने कहा–

> "सज़ा तो मैं जिसे चाहता हूँ देता हूँ, मगर मेरी दयालुता हर चीज़ पर छाई हुई है मगर मैं उसे उन्हीं लोगों के लिए लिखूँगा जो मुझसे डरेंगे, ज़कात देंगे तथा मेरी आयतों पर ईमान लाएँगे।"
> (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-156)

हज़रत ईसा मसीह को भी यही आदेश था–

> "अल्लाह ने मुझे बरकत दी जहाँ भी मैं रहूँ, और मुझे निर्देश दिया कि नमाज़ पढ़ूँ तथा ज़कात देता रहूँ जब तक जीवित रहूँ।"
> (क़ुरआन, सूरा-19 मरयम, आयत-31)

इससे ज्ञात हुआ कि इस्लाम धर्म प्रारम्भ से हर सन्देष्टा के युग में नमाज़ और ज़कात के दो बड़े स्तम्भों पर स्थापित हुआ है और कभी ऐसा नहीं हुआ

कि अल्लाह पर ईमान रखनेवाले किसी वर्ग को भी इन दो अनिवार्य आदेशों से वंचित रखा गया हो।

अब देखिए हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की शरीअत में ये दोनों अनिवार्य आदेश किस प्रकार साथ-साथ लगे हुए हैं। क़ुरआन खोलते ही सबसे पहले जिस अंश पर आपकी दृष्टि पड़ती है वह यह है–

> "यह अल्लाह की किताब है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मार्गदर्शन है उन डरनेवालों के लिए ज़ो अनदेखे ईमान लाते हैं नमाज़ क़ायम करते हैं, और जो कुछ हमने उन्हें दिया है उसमें से ख़र्च करते हैं।"
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-2,3)

फिर कहा गया–

> "ऐसे ही लोग अपने प्रभु की ओर से सीधे मार्ग पर हैं तथा सफलता ऐसे ही लोगों के लिए है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-5)

अर्थात् जो आस्थावान नहीं और जो नमाज़ तथा ज़कात के पाबन्द नहीं वह न सीधे रास्ते पर है और न उन्हें सफलता प्राप्त हो सकती है। फिर इस अध्याय को पढ़ते जाइए। कुछ पन्नों के पश्चात् फिर आदेश होता है–

> "नमाज़ क़ायम करो, ज़कात (दान) दो और जो लोग मेरे आगे झुक रहे हैं उनके साथ तुम भी झुक जाओ।"
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-43)

अन्य अनेक स्थानों पर नमाज़ तथा ज़कात की अनिवार्यता सम्बन्धी आदेश साथ-साथ दिए गए हैं जिससे ज़कात का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

(2) सामूहिक जीवन में ज़कात का स्थान

पवित्र क़ुरआन में ज़कात और सदक़ात (दान-पुण्य) को 'ईश्वरीय मार्ग में ख़र्च करना' कहा गया है। कुछ स्थानों पर यह भी कहा गया है कि जो कुछ अल्लाह के रास्ते में ख़र्च करते हो वह अल्लाह के ऊपर क़र्ज़ हसन अर्थात् अच्छा ऋण है। अनेक जगह पर भी कहा गया कि अल्लाह के मार्ग में जो कुछ तुम दोगे उसका बदला अल्लाह के ज़िम्मे है और तुम्हें उतना ही वापस नहीं करेगा बल्कि उससे भी अधिक देगा। इस पर आप विचार

कीजिए। क्या धरती और आकाश का स्वामी आपका मुहताज है? क्या उसे आपसे क़र्ज़ लेने की आवश्यकता है? नहीं, हर व्यक्ति उसकी कृपा दृष्टि का मुहताज है वह किसी का मुहताज नहीं। उसको क्या ज़रूरत कि आपसे क़र्ज़ माँगे। वास्तव में यह उसकी उच्च कृपाशीलता है कि वह आपसे स्वयं आपके फ़ायदे के लिए आपकी भलाई के लिए, आप ही के काम में ख़र्च करने को कहता है और उसे कहता है कि यह मेरे मार्ग में ख़र्च है और मेरे ऊपर क़र्ज़ है, मेरे ज़िम्मे बदला है। तुम अपनी क़ौम के मुहताजों और ग़रीबों को दो, उसका बदला वह ग़रीब कहाँ से देंगे, उनकी ओर से मैं दूँगा।

आप जानते हैं कि इनसान अपने स्वभाव के आधार पर ज़ालिम और जाहिल है, अधिक दूरी तक नहीं देख सकता, अधिक ऊँचे विचार उसके मस्तिष्क में नहीं समा पाते, वह स्वार्थी और जल्दबाज़ है, वह हर चीज़ में अपने व्यक्तिगत हित को देखता है। वह कहता है कि जो कुछ मैंने कमाया है या बाप-दादा से मिला है वह मेरा है उसमें किसी का हिस्सा नहीं। उसको मेरी आवश्यकताओं एवं इच्छा पूर्ति पर ख़र्च होना चाहिए या कम-से-कम ऐसे कामों पर ख़र्च हो जिसमें मेरी नामवरी हो।

कोई अनाथ भूखा मर रहा है या विधवा मुसीबत के दिन काट रही है या मुसाफ़िर भटकता फिर रहा है या कोई अन्य व्यक्ति परेशान है तो हुआ करे मैं उनकी मदद क्यों करूँ। मैं उसे दूँगा तो ऋण दूँगा और मूल के साथ ब्याज भी वसूल करूँगा।

इस स्वार्थी सोच के साथ एक तो आदमी माया का साँप बनकर रहेगा। यदि ख़र्च करेगा तो अपने व्यक्तिगत हित के लिए करेगा, निस्वार्थ कुछ भी ख़र्च न करेगा। इस सोच के परिणाम सामाजिक जीवन ही के लिए हानिकारक नहीं होते बल्कि अन्ततः स्वयं उस व्यक्ति के लिए भी हानिकारक होते हैं। ऐसे वातावरण में दौलत सिमट-सिमटकर कुछ लोगों के पास इकट्ठी होती चली जाती है और अनगिनत लोग साधनविहीन होते चले जाते हैं। सम्पन्न लोग दौलत की शक्ति से धन खींचते रहते हैं। ग़रीब लोगों का जीवन दिन-प्रतिदिन कठिन होता चला जाता है। ग़रीबी जिस समाज में व्याप्त हो वह नाना प्रकार की ख़राबियों से घिर जाता है, स्वास्थ्य व कार्य

क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है, अज्ञानता, अनैतिकता तथा अपराध बढ़ते हैं। नौबत यहाँ तक पहुँचती है कि लोग लूटमार करने लगते हैं, धनी वर्ग के लोगों की हत्याएँ होने लगती है, उनके घर लूटे और जलाए जाते हैं और वह इस तरह बर्बाद कर दिए जाते हैं कि उनका नामोनिशान भी शेष नहीं रहता।

वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति का हित उस समाज के हित से जुड़ा है जिस समाज की परिधि में वह रहता है। आपके पास जो दौलत है अगर आप उसमें से अपने दूसरे भाइयों की मदद करेंगे तो यह दौलत चक्कर लगाती हुई बहुत से फ़ायदों के साथ पुनः आपके पास पलट आएगी और यदि आप उसे केवल अपने पास इकट्ठा रखें और अपने व्यक्तिगत फ़ायदे पर ही ख़र्च करेंगे तो अन्ततः घटती जाएगी। उदाहरण के लिए आपने किसी अनाथ बच्चे का पालन-पोषण किया और उसे शिक्षा दिलाकर इस योग्य बनाया कि वह समाज एक कमानेवाला मेम्बर बन जाए तो मानो आपने समाज की दौलत में वृद्धि की और स्पष्ट है कि जब समाज की दौलत बढ़ेगी तो उसके सदस्य होने के कारण उस दौलत का हिस्सा आपको भी मिलेगा चाहे आपको किसी हिसाब-किताब से यह ज्ञात न हो सके कि यह हिस्सा आपको उस उक्त अनाथ की योग्यता से पहुँचा है जिसकी आपने कभी सहायता की थी। परन्तु यदि आपने स्वार्थ और तंगदिली से काम लेकर मदद न की तो वह आवारा घूमेगा एक बेकार आदमी बनकर रह जाएगा, उसमें यह योग्यता ही पैदा नहीं हो सकेगी कि अपनी मेहनत से समाज की दौलत में कोई बढ़ोत्तरी कर सके। बल्कि सम्भव है वह अपराधी बन जाए और किसी दिन आपके घर में चोरी करे। इसका अर्थ यह हुआ कि आपने अपने समाज के एक व्यक्ति को बेरोज़गार और आवारा और अपराधी बनाकर उसका ही नहीं स्वयं अपना भी नुक़्सान किया। इस एक मिसाल पर अनुमान करके आप तनिक विस्तृत दृष्टि से देखें तो आपको ज्ञात होगा कि जो व्यक्ति निस्वार्थ समाज की भलाई के लिए धन ख़र्च करता है उसका माल देखने में तो उसकी जेब से निकल जाता है परन्तु बाहर वह फलता-फूलता चला जाता है यहाँ तक कि वह अनगिनत फ़ायदों के साथ उसी की जेब में वापस आता है जिससे वह निकला था और जो व्यक्ति स्वार्थी बनकर माल को अपने पास

रोक रखता है और समाज के हित में ख़र्च नहीं करता वह देखने में तो अपना धन सुरक्षित रखता है या ब्याज द्वारा बढ़ाता है परन्तु वास्तव में अपनी मूर्खता से अपनी दौलत को घटाता है और अपने हाथों अपनी बर्बादी का सामान करता है। यही वह रहस्य है जिसे अल्लाह ने पवित्र क़ुरआन में इस प्रकार व्यक्त किया है–

"अल्लाह सूद का मठ मार देता है और सदक़ों को बढ़ाता है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-276)

"जो ब्याज तुम देते हो ताकि लोगों के मालों में सम्मिलित होकर वह बढ़ जाए, अल्लाह की दृष्टि में वह नहीं बढ़ता, और जो ज़कात (दान) तुम अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के इरादे से देते हो, उसी के देनेवाले वास्तव में अपने धन को बढ़ाते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-39)

परन्तु इस रहस्य को समझने और उसके अनुसार कर्म करने में इनसान की तंगनज़री और उसकी अज्ञानता बाधक है। वह सामने का हाल जानता है। जो धन उसके पास है या जो बही-खाते में है उसे वह जानता है मगर जो माल उसके पास से चला जाता है उसको वह नहीं देख सकता कि कहाँ बढ़ रहा है और कितना बढ़ रहा है और कब लाभ सहित वापस आता है।

अज्ञानता की इस बाधा को इनसान अपनी बुद्धि से पार नहीं कर सका। सम्पूर्ण विश्व की यही स्थिति है। एक ओर पूँजीपतियों का संसार है जहाँ समस्त कार्य सूद पर चल रहे हैं और दौलत की बढ़ोत्तरी के होते हुए भी दिन-प्रतिदिन मुसीबतों और कठिनाइयों में वृद्धि ही होती चली जा रही है। दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग पैदा हो चुका है और बढ़ता चला जा रहा है जिसके दिल में क्रोध की आग भड़क रही है और वह सरमायादारों के ख़ज़ानों पर डाका डालने के साथ इनसानी सभ्यता की बिसात भी उलट देना चाहता है।

इस जटिल गुत्थी को अल्लाह ने हल किया है। अगर मनुष्य अल्लाह पर ईमान ले आए और यह जान ले कि धरती और आकाश के ख़ज़ानों का वास्तविक स्वामी अल्लाह है और इनसानी मामलों का प्रबन्ध उसी के हाथ

में है, उसके पास एक-एक कण का हिसाब है तथा मनुष्य की समस्त भलाइयों और बुराइयों का अन्तिम इनाम या दण्ड परलोक में मिलेगा, तो मनुष्य के लिए आसान हो जाता है कि वह अल्लाह पर भरोसा करे और अपनी दौलत को अल्लाह के निर्देशानुसार ख़र्च और लाभ-हानि को अल्लाह पर छोड़ दे। इस आस्था के साथ वह जो कुछ ख़र्च करेगा वह वास्तव में अल्लाह को देगा। उसका हिसाब भी अल्लाह के बही-खाते में लिखा जाएगा। चाहे संसार में किसी को उसके एहसान की जानकारी हो या न हो मगर अल्लाह को होगी और वह इसका बदला अवश्य देगा चाहे परलोक में दे या इस दुनिया और परलोक दोनों में दे।

अल्लाह का नियम यह है कि पहले तो नेकी और भलाई के कार्यों का एक सामान्य आदेश दिया जाता है ताकि लोग अपने जीवन में भलाई का मार्ग अपना लें फिर इस भलाई का एक विशिष्ट रूप भी निश्चित कर दिया जाता है ताकि उसका विशेष तौर पर पालन किया जाए। बस ऐसा ही मामला ज़कात का भी है। यहाँ भी एक साधारण आदेश है और एक असाधारण। एक ओर तो यह आदेश है कि कन्जूसी और तंगदिली से बचो, अपने आचरण में अल्लाह की उदारता का रंग अपनाओ, अल्लाह के मार्ग में अधिक-से-अधिक ख़र्च करो, अपनी आवश्यकताएँ कम करके दूसरे ज़रूरतमन्दों की ज़रूरतें पूरी करो। अगर अल्लाह से मुहब्बत करते हो तो माल की मुहब्बत को अल्लाह की मुहब्बत पर न्योछावर कर दो। यह तो है आम हुक्म!

इसके साथ ही ख़ास हुक्म यह है कि अगर इतना माल तुम्हारे पास जमा हो तो उसमें कम-से-कम इतना अल्लाह के रास्ते में ज़रूर ख़र्च करो और इतनी उपज तुम्हारी खेती में हो तो उसमें से कम-से-कम इतनी अवश्य अल्लाह के लिए दान दो। इससे अधिक भी जिस व्यक्ति से जो कुछ बन आए वह उसको ख़र्च करना चाहिए।

(3) ज़कात सम्बन्धी आदेश

ज़कात के सम्बन्ध में क़ुरआन में तीन स्थानों पर अलग-अलग आदेश

दिए गए हैं—

1. दूसरे अध्याय में है—

"ऐ आस्थावान लोगो! जो माल तुमने कमाए हैं और जो कुछ हमने धरती से तुम्हारे लिए निकाला है उसमें से अच्छा हिस्सा अल्लाह के मार्ग में ख़र्च करो।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-267)

2. छठे अध्याय आयत 141 में बाग़ और खेती उगाने का उल्लेख करने के बाद आदेश दिया गया—

"उसकी उपज जब आए तो उसमें से खाओ और फ़सल कटने के दिन अल्लाह का हक़ अदा करो।"

(क़ुरआन, सूरा-6 अनआ़म, आयत-141)

यह दोनों आयतें ज़मीन की उपज से सम्बन्धित हैं। हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) ने व्याख्या की कि असिंचित भूमि की उपज का दसवाँ भाग और सिंचाई वाली खेती की उपज का बीसवाँ भाग दान करना चाहिए।

3. नवें अध्याय में है—

"जो लोग सोने-चाँदी को जमा करके रखते हैं और उसमें से अल्लाह के मार्ग में ख़र्च नहीं करते उनको दर्दनाक सज़ा की 'शुभ सूचना' दे दो। एक दिन आएगा कि इसी सोने-चाँदी पर जहन्नुम की आग दहकाई जाएगी फिर इसी से उनके ललाटों और पहलुओं और पीठों को दाग़ा जाएगा और कहा जाएगा कि यह है वह माल जो तुमने अपने लिए जमा किया था अब अपने ख़ज़ानों का मज़ा चखो।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयतें-34, 35)

फिर कहा गया—

"ये सदक़े (ज़कात) तो वास्तव में फ़क़ीरों (असम्पन्न) के लिए और मिस्कीनों (मुहताजों) के लिए है और उनके लिए जो इस काम पर नियुक्त हों, और उनके लिए जिनका दिल मोहना अभीष्ट हो। और यह गरदनों को छुड़ाने और ऋण ग्रस्त लोगों की सहायता करने और अल्लाह के मार्ग में और मुसाफ़िरों की सहायता में इस्तेमाल करने

के लिए है। यह एक अनिवार्य पालनीय आदेश है अल्लाह की ओर से और अल्लाह सब कुछ जाननेवाला और गहरी समझ-बूझवाला है।" (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-60)

इसके पश्चात् कहा गया–

"उनके मालों में से ज़कात वसूल करके उनको पाक और साफ़ कर दो।" (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-103)

इन तीनों आयतों से ज्ञात हुआ कि जो माल जमा किया जाए और बढ़ाया जाए और उसमें से अल्लाह के मार्ग में ख़र्च न किया जाए वह अपवित्र होता है, उसके शुद्धिकरण करने की विधि यह है कि उसमें से अल्लाह का हक़ निकालकर उसके बन्दों को दिया जाए।

उपरोक्त आयतों में तो ज़मीन की उपज तथा सोने-चाँदी की ज़कात का आदेश है परन्तु हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के निर्देशों से ज्ञात होता है कि व्यापारिक माल, ऊँट, गाय, बकरियों में भी ज़कात है। चाँदी की सीमा साढ़े 52 तोला चाँदी के लगभग है। स्वर्ण की सीमा साढ़े 7 तोला। ऊँट 15, बकरियाँ 40, गाये 30, व्यापारिक रहतिया साढ़े 52 तोला चाँदी के मूल्यानुसार। आशय यह है कि जिस व्यक्ति के पास उक्त सीमा से अधिक माल या पशु हों और उसपर एक वर्ष बीत जाए तो उसमें चालीसवाँ भाग (2.50 प्रतिशत) ज़कात निकालना अनिवार्य है।

(4) ज़कात फन्ड के व्यय की मदें

क़ुरआन में ज़कात के आठ हक़दार बताए गए हैं–

"ये सदक़े (ज़कात) तो वास्तव में फ़क़ीरों (असम्पन्न) के लिए और मिस्कीनों (मुहताजों) के लिए है और उनके लिए जो इस (ज़कात वसूली वितरण) कार्य पर नियुक्त हों और उनके लिए जिनका दिल मोहना अभीष्ट हो। और गरदनों को छुड़ाने और ऋणग्रस्त लोगों की मदद करने और अल्लाह के मार्ग में और मुसाफ़िरों की सहायता में इस्तेमाल करने के लिए हैं। यह अल्लाह की ओर से एक अनिवार्य रूप से अनुपालन करने के लिए आदेश है और अल्लाह सब कुछ

जाननेवाला और गहरी समझ-बूझवाला है।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-60)

क़ुरआन की इस आयत में ज़कात की धनराशि के व्यय की मदें व्यक्त की गई हैं। ज़कात से समाज के जिन वर्गों की सहायता वांछित है यहाँ उनको स्पष्ट कर दिया गया है। उन मदों की संक्षिप्त व्याख्या ये है—

1. फ़क़ीर से तात्पर्य वह व्यक्ति है जो अपने जीवन-यापन के लिए दूसरों की मदद का मुहताज हो। यह शब्द सभी ज़रूरतमन्दों के लिए प्रयुक्त होता है चाहे वे किसी भी कारणवश मदद के मुहताज हो गए हों जैसे अनाथ बच्चे, विधवा औरतें, बेरोज़गार लोग और वे लोग जो सामयिक घटनाओं के शिकार हो गए हों।

2. मिस्कीन (मुहताज) वे सब लोग हैं जिनमें विवशता, बेचारगी और अपमान की स्थिति पाई जाती हो। इस दृष्टि से मिस्कीन वे लोग हैं जो सामान्य ज़रूरतमन्दों से अधिक ग़रीब हों। हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए मुख्य रूप से ऐसे लोगों को मदद का अधिकारी ठहराया है जो अपनी आवश्यकता के अनुसार साधन न जुटा पा रहे हों और अत्यन्त विकट परिस्थितियों में हो, परन्तु न उनका स्वाभिमान किसी के आगे हाथ फैलाने देता हो और न उनकी ज़ाहिरी, पोज़ीशन ऐसी हो कि कोई उन्हें ज़रूरतमन्द समझकर उनकी मदद के लिए हाथ बढ़ाए।

3. "आमिलीन या कार्यकर्ता" अर्थात् वे लोग जो सदक़े वसूल करने और प्राप्त माल की सुरक्षा, उनका हिसाब लिखने और उनके वितरण कार्य में नियुक्त हो, ऐसे लोग चाहे फ़क़ीर और मिस्कीन न हो, उनके वेतन सदक़ों की मद से दिए जाएँगे। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि महाईशदूत (सल्ल॰) ने अपने स्वयं के ऊपर और अपने ख़ानदान (बनू हाशिम) पर ज़कात का माल वर्जित रखा था, इसलिए आपने स्वयं भी सदक़ों को वसूल करने और बाँटने का कार्य सदैव अवैतनिक किया और दूसरे बनी हाशिम के लिए भी यह नियम है कि अगर वे यह सेवा अवैतनिक करें तो वैध है परन्तु वेतन लेकर इस विभाग में सेवा करना उनके लिए वैध नहीं है।

4. अरबी शब्द 'तालीफ़े क़ल्ब' का अर्थ है मन मोहना। इस आदेश से अभिप्रेत यह है कि जो लोग सत्य मार्ग के विरोध में सक्रिय हों उनके विरोध को ठण्डा करने के लिए धन व्यय किया जा सकता है। इसी प्रकार विरोधी कैम्प के लोगों का मन मोहने और नवागन्तुकों पर ख़र्च करने के लिए इस मद का प्रयोग हो सकता है।

5. 'गरदनों को छुड़ाने' से तात्पर्य है ग़ुलामों को स्वतन्त्र कराने में ज़कात फन्ड व्यय किया जाए।

6. ऋण ग्रस्त लोगों पर उन ऋण ग्रस्त लोगों पर जो यदि अपने माल से अपना सम्पूर्ण ऋण चुका दें तो उनके पास निसाब (अर्थात् ज़कात की सीमा) से कम माल बचे, उनके ऋण चुकाने में ज़कात फन्ड प्रयुक्त हो सकता है।

7. 'अल्लाह के मार्ग में'—इसमें वे समस्त नेकी के कार्य आते हैं जिनसे अल्लाह प्रसन्न हो। इस अभिप्राय के अनुसार ज़कात का माल प्रत्येक प्रकार के नेक कामों में ख़र्च किया जा सकता है। लेकिन अधिकतर विद्वान इस बात को मानते हैं कि यहाँ 'अल्लाह के मार्ग में' से तात्पर्य 'अल्लाह के मार्ग का जिहाद है अर्थात् वह प्रयास जिसका उद्देश्य असत्य को मिटाना और उसके स्थान पर सत्य (इस्लामी व्यवस्था) को स्थापित करना हो।

अध्याय-8

इस्लाम और सामाजिक न्याय

असत्य सत्य के वेश में

इनसान को ईश्वर ने जो बेहतरीन शारीरिक रचना और योग्यताएँ दी हैं, उनके अद्भुत चमत्कारों में से एक यह भी है कि इनसान खुले बिगाड़ और स्पष्ट बुराइयों की ओर कम ही आकर्षित होता है और इस कारण शैतान प्रायः विवश हो जाता है कि वह बिगाड़ और बुराइयों को किसी न किसी तरह भलाई और अच्छाई का धोखा देनेवाला वस्त्र पहनाकर उसके सामने प्रस्तुत करे। स्वर्ग में आदम (अलैहि०) को शैतान यह कहकर कदापि धोखा नहीं दे सकता था कि मैं तुमसे ईश्वर की अवज्ञा कराना चाहता हूँ, ताकि तुम स्वर्ग से निकाल दिए जाओ। बल्कि उसने यह कहकर उन्हें धोखा दिया कि—

> "क्या मैं तुम्हें वह वृक्ष बताऊँ जो अमर कर देनेवाला और शाश्वत सत्ता प्रदान करनेवाला वृक्ष है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-20 ता-हा, आयत-120)

इनसान की यही प्रकृति आज भी है, आज भी जितनी ग़लतियों और नासमझियों में शैतान उसको डाल रहा है वे किसी-न-किसी छलपूर्ण नारे और किसी-न-किसी झूठे लिबास के सहारे स्वीकृत हो रही हैं।

पहला धोखा : पूँजीवाद और धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र

इन्हीं धोखों में से एक बहुत बड़ा धोखा वह है जो इस ज़माने में सामाजिक न्याय (Social Justice) के नाम पर इनसानों को दिया जा रहा है। शैतान पहले एक अवधि तक दुनिया को व्यक्तिगत स्वतंत्रता (Individual Liberty) और उदारतावाद (Liberalism) के नाम से धोखा देता रहा और इसके आधार पर उसने अठारहवीं सदी में पूँजीवाद (Capitalism) और धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र की एक व्यवस्था प्रचलित करवाई। एक समय तो इस

व्यवस्था की लोकप्रियता का यह हाल था कि इसे दुनिया में मानवीय उन्नति की चरम सीमा समझा जाता था और प्रत्येक व्यक्ति जो अपने-आपको प्रगतिशील और तरक़्क़ीपसन्द कहलाना चाहता हो, विवश था कि इसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और उदारवाद का नारा लगाए। लोग यह समझते थे कि मानव-जीवन के लिए यदि कोई जीवन-प्रणाली है तो वह यही पूँजीवाद और धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र है जो पश्चिम में स्थापित है। परन्तु देखते-देखते वह समय भी आ गया जब सारा संसार यह महसूस करने लगा कि इस शैतानी व्यवस्था ने पृथ्वी को अत्याचार तथा ज़ोर-ज़बरदस्ती से भर दिया है। इसके बाद शैतान के लिए यह सम्भव न रहा कि वह इस नारे से और कुछ समय तक इनसानों को धोखा दे सके।

दूसरा धोखा : सामाजिक न्याय और समाजवाद

फिर कुछ अधिक देर न हुई थी कि वही शैतान एक दूसरा धोखा सामाजिक न्याय और समाजवाद के नाम से बना लाया और अब इस झूठ के परदे में वह दूसरी व्यवस्था स्थापित करवा रहा है। यह नई व्यवस्था इस समय तक विश्व के कई देशों को एक ऐसा भीषण अत्याचार से भर चुकी है जिसका कोई उदाहरण मानवीय-इतिहास में नहीं पाया जाता। परन्तु इसके धोखे का इतना ज़ोर है कि बहुत से देश इसे उन्नति की चरम सीमा समझकर स्वीकार करने को तत्पर हो रहे हैं। अभी इस धोखे से पर्दा पूरी तरह नहीं उठा है।[1]

सामाजिक न्याय की वास्तविकता

मैं इस संक्षिप्त लेख में यह बताना चाहता हूँ कि वास्तव में सामाजिक न्याय किस चीज़ का नाम है और इसके लागू करने का सही उपाय क्या है। हालाँकि इस बात की उम्मीद बहुत कम है कि जो लोग समाजवाद को सामाजिक न्याय की स्थापना का एकमात्र उपाय समझकर उसे लागू करने

1. इस लेख के लिखने के 27 साल बाद न केवल यह कि इस धोखे का पर्दा उठा, बल्कि इस व्यवस्था का केन्द्र क्रेमलिन औंधे मुँह ज़मीन पर आ गया। अब पूरी दुनिया एक नई व्यवस्था की खोज में है।

के लिए कृतसंकल्प हैं, वे अपनी ग़लती मान लेंगे और उस मार्ग से पलट आएँगे, क्योंकि जब तक केवल मनुष्य अज्ञानी रहता है उसके सुधार की बहुत-सी सम्भावनाएँ शेष रहती हैं, परन्तु जब वह शासक हो जाता है तो वह अपने अलावा किसी को कुछ नहीं समझता और उसका यह अहम् किसी समझानेवाले की बात समझने के योग्य नहीं रहने देता। लेकिन आम लोग ख़ुदा की कृपा से हर समय इस योग्य रहते हैं कि उचित ढँग से उन्हें बात समझाकर शैतान के धोखों से सावधान किया जा सके और यही आम लोग हैं जिन्हें धोखा देकर स्वयं पथभ्रष्ट होते हैं और दूसरों को पथ-भ्रष्ट करनेवाले यही लोग अपनी पथभ्रष्टताओं को चमकाते हैं। इसलिए मेरे इस लेख का उद्देश्य वास्तव में आम लोगों के सामने वास्तविकता को खोलकर बयान कर देना है।

इस्लाम ही में सामाजिक न्याय है

इस विषय में जो बात सबसे पहले मैं अपने मुसलमान भाइयों को समझाना चाहता हूँ, वह यह है कि जो लोग "इस्लाम में भी सामाजिक न्याय मौजूद है" का नारा लगाते हैं वे बिल्कुल एक ग़लत बात कहते हैं। सही बात यह है कि इस्लाम ही में सामाजिक न्याय है। इस्लाम वह सत्य-धर्म है जिसे विश्व के स्रष्टा और पालनहार ने इनसान के मार्गदर्शन के लिए अवतरित किया है और इनसानों के बीच न्याय स्थापित करना और यह तय करना कि उनके लिए क्या चीज़ न्याय है और क्या चीज़ न्याय नहीं है, इनसानों के स्रष्टा, पालनहार का ही काम है। किसी दूसरे को यह अधिकार है ही नहीं कि वह न्याय और अन्याय का मानदण्ड निर्धारित करे, और न ही किसी दूसरे में यह योग्यता पाई जाती है कि वह वास्तविक न्याय स्थापित कर सके। इनसान स्वयं अपना स्वामी और शासक नहीं है कि वह अपने लिए न्याय का मानदण्ड निर्धारित करने का अधिकारी हो। ब्रह्माण्ड में उसकी हैसियत ख़ुदा के ग़ुलाम और प्रजा की है, इसलिए न्याय के मानदण्ड को निर्धारित करना उसका अपना नहीं बल्कि उसके स्वामी और उसके शासक का काम है। फिर इनसान चाहे कितने ही उच्च स्तर का हो, और चाहे एक इनसान ही नहीं बल्कि बहुत-से उच्च स्तरीय इनसान मिलकर भी अपनी

बुद्धि का प्रयोग कर लें, बहरहाल मानवीय ज्ञान की सीमितता और मानवीय बुद्धि की संकीर्णता और मानवीय सोच पर इच्छाओं और भेदभाव से छुटकारा पाने का उनके पास क़ोई चारा नहीं है। इस कारण इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि इनसान स्वयं अपने लिए कोई ऐसी व्यवस्था बना सके जो वास्तव में न्याय पर आधारित हो। इनसान की बनाई हुई व्यवस्था में आरम्भ में प्रत्यक्ष रूप से कैसा ही न्याय दिखाई दे, शीघ्र ही व्यावहारिक प्रयोग यह प्रमाणित कर देता है कि वास्तव में इसमें न्याय नहीं है। इसी कारण प्रत्येक मानवीय व्यवस्था कुछ समय तक चलने के बाद खोटी साबित हो जाती है और इनसान इससे मुँह फेरकर एक-दूसरे मूर्खतापूर्ण प्रयोग की ओर क़दम बढ़ाने लगता है। वास्तविक न्याय केवल उसी व्यवस्था के अन्तर्गत हो सकता है जिस व्यवस्था को एक ऐसी हस्ती ने बनाया हो जो छिपे-खुले का पूर्ण ज्ञान रखती हो, हर प्रकार की त्रुटियों से पाक हो और महिमावान भी हो।

न्याय ही इस्लाम का लक्ष्य है

दूसरी बात जो शुरू ही में समझ लेनी ज़रूरी है, वह यह है कि जो व्यक्ति "इस्लाम में न्याय है" कहता है वह वास्तविकता से न्यूनतर बात कहता है। वास्तविकता यह है कि न्याय ही इस्लाम का लक्ष्य है और इस्लाम आया ही इसी लिए है कि न्याय स्थापित करे। अल्लाह तआला क़ुरआन में फ़रमाता है—

> "हमने अपने रसूलों को साफ़-साफ़ निशानियों के साथ भेजा और उनके साथ किताब और तुला अवतरित की, ताकि इनसान न्याय पर क़ायम हो सके और लोहा उतारा जिसमें बड़ा ज़ोर है और लोगों के लिए लाभ हैं, ताकि अल्लाह यह मालूम कर सके कि कौन बिना देखे उसकी और उसके रसूलों की सहायता करता है। निश्चय ही अल्लाह बड़ी शक्तिवाला और प्रभुत्वशाली है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-57 हदीद, आयत-25)

ये दो बातें हैं जिनसे यदि एक मुसलमान अनभिज्ञ न हो तो वह कभी

सामाजिक न्याय की खोज में अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल॰) को छोड़कर किसी दूसरे स्रोत की ओर ध्यान देने की भूल नहीं कर सकता। जिस क्षण उसे न्याय की आवश्यकता का एहसास होगा, उसी क्षण उसे मालूम हो जाएगा कि न्याय अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल॰) के अलावा किसी के पास न है और न हो सकता है। और वह यह भी जान लेगा कि न्याय स्थापित करने के लिए इसके सिवा कुछ और नहीं करना है कि इस्लाम, पूरा-का-पूरा इस्लाम, बिना कुछ घटाए-बढ़ाए स्थापित कर दिया जाए। न्याय, इस्लाम से अलग कोई चीज़ नहीं है। इस्लाम अपने आपमें न्याय है। इसका स्थापित होना या न्याय का स्थापित होना एक ही बात है।

अध्याय-9

सामाजिक न्याय

सबसे पहले हमें यह देखना चाहिए कि वास्तव में सामाजिक न्याय क्या है और वह किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है?

मानव-व्यक्तित्व का विकास

हर मानव-समाज हज़ारों, लाखों और करोड़ों लोगों से मिलकर बनता है। इस सम्मिलित समूह का प्रत्येक व्यक्ति आत्मा, बुद्धि और विवेक रखता है। प्रत्येक व्यक्ति अपना एक अलग व्यक्तित्व रखता है, जिसे फलने-फूलने और विकसित होने के लिए उपयुक्त अवसर की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत शौक़ है, उसके पास अपनी कुछ इच्छाएँ और रुचियाँ हैं। उसके अपने शरीर और आत्मा की कुछ आवश्यकताएँ हैं। इन व्यक्तियों की हैसियत किसी मशीन के बेज़ान पुर्ज़ों की-सी नहीं है कि मुख्य चीज़ मशीन हो और ये पुर्ज़े केवल मशीन के लिए ही आवश्यक हों, और स्वयं पुर्ज़ों का अलग से कोई अस्तित्व न हो। बल्कि इसके विपरीत मानव-समाज जीते-जागते इनसानों का एक समूह है। यह व्यक्ति इस समूह के लिए नहीं, बल्कि समूह इन व्यक्तियों के लिए है, और व्यक्ति एकत्रित होकर यह समूह बनाते ही इस उद्देश्य से हैं कि एक-दूसरे की सहायता से उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और अपने मन व शरीर की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को पूर्ण करने के अवसर प्राप्त हों।

व्यक्तिगत उत्तरदायित्व

फिर ये सारे सदस्य एक-एक करके ईश्वर के सामने उत्तरदायी हैं। हर एक को इस दुनिया में परीक्षा की एक विशेष अवधि (जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग निर्धारित है) व्यतीत करने के बाद अपने ख़ुदा के सम्मुख उपस्थित होकर हिसाब देना है कि जो शक्तियाँ और योग्यताएँ उसे दुनिया में प्रदान की गई थीं, उनसे काम लेकर और जो साधन उसे प्रदान किए गए

थे उन पर कार्य करके वह अपना क्या व्यक्तित्व बनाकर लाया है। ख़ुदा के सामने इनसान की यह जवाबदेही सामूहिक रूप से नहीं होगी बल्कि, व्यक्तिगत रूप से होगी। वहाँ वंश, समुदाय और जातियाँ खड़ी होकर हिसाब नहीं देंगी, बल्कि दुनिया के सारे सम्बन्धों से काटकर अल्लाह तआला प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग अपनी अदालत में हाज़िर करेगा और प्रत्येक व्यक्ति से अलग-अलग हिसाब लेगा कि तू क्या करके आया और क्या बनकर आया है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

ये दोनों बातें अर्थात् दुनिया में मानव के व्यक्तित्व का विकास और आख़िरत में इनसान का उत्तरदायी होना इस बात की अपेक्षा करती हैं कि दुनिया में व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यदि किसी समाज में व्यक्ति को अपनी पसन्द के अनुसार अपने व्यक्तित्व के निर्माण के अवसर प्राप्त न हों तो उसके अन्दर इनसानियत ठिठुर कर रह जाती है, उसका दम घुटने लगता है, उसकी शक्तियाँ और योग्यताएँ दबकर रह जाती हैं और अपने आपको चारों ओर से घिरा हुआ और बन्धनों में जकड़ा हुआ पाकर इनसान शिथिल और बेकार हो जाता है। फिर आख़िरत में इन घिरे हुए और बन्दी लोगों के दोषों की अधिकतर ज़िम्मेदारियाँ उन लोगों की ओर स्थानान्तरित होनेवाली हैं जो इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को बनाने और चलाने के ज़िम्मेदार हों। उनसे केवल उनके अपने व्यक्तिगत कर्मों का ही हिसाब नहीं होगा। बल्कि इस बात का भी हिसाब होगा कि उन्होंने एक अत्याचारपूर्ण व्यवस्था स्थापित करके दूसरे अनगिनत इनसानों को उनकी इच्छा के विरुद्ध और अपनी इच्छानुसार अपूर्ण व्यक्तित्ववाला बनने पर विवश किया। स्पष्ट है कि कोई आख़िरत पर ईमान रखनेवाला इनसान यह भारी बोझ उठाकर ख़ुदा के सामने जाने की बात सोच भी नहीं सकता। वह यदि ख़ुदा से डरनेवाला इनसान है तो निश्चित रूप से वह लोगों को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देने की ओर अग्रसर होगा, ताकि हर व्यक्ति जो कुछ भी बने अपनी ज़िम्मेदारी के आधार पर बने, उसके ग़लत व्यक्तित्व बनने का दायित्व सामाजिक व्यवस्था चलानेवालों पर न हो।

सामाजिक संस्थाएँ और उनकी सत्ता

यह मामला तो है व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का। दूसरी ओर समाज को देखिए जो परिवार, क़बीलों, जातियों और पूरी मानवता के रूप में व्यवस्थित होता है। इसका आरम्भ एक पुरुष और एक स्त्री और उनकी सन्तान से होता है, जिससे परिवार बनता है। इन परिवारों से क़बीले और बिरादरियाँ बनती हैं, इनसे एक जाति का निर्माण होता है और जाति अपने सामूहिक हित के लिए एक राज्य की व्यवस्था बनाती है। इन विभिन्न रूपों में ये सामाजिक संस्थाएँ मूलतः जिस उद्देश्य के लिए आवश्यक हैं वह यह है कि इनकी रक्षा और इनकी सहायता से व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के निर्माण के वे अवसर प्राप्त हो सकें जो वह अकेले अपने बलबूते पर प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु इस मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति इसके बिना नहीं हो सकती कि इनमें से प्रत्येक संस्था को व्यक्ति पर और बड़ी संस्था को छोटी संस्था पर अधिकार प्राप्त हो, ताकि वे व्यक्तियों की ऐसी स्वतन्त्रता को रोक सकें जो दूसरों पर हस्तक्षेप की सीमा तक पहुँचती हो, और व्यक्तियों से वह सेवा ले सकें जो कुल मिलाकर समाज के सारे व्यक्तियों के कल्याण और उन्नति के लिए आवश्यक हो।

यही वह स्थान है जहाँ पर पहुँचकर सामाजिक न्याय का प्रश्न उठता है और वैयक्तिकता और सामूहिकता की परस्पर विरोधी माँगें एक गुत्थी का रूप धारण कर लेती हैं। एक ओर मानव-कल्याण इस बात की माँग करता है कि व्यक्ति को समाज में स्वतन्त्रता प्राप्त हो, ताकि वह अपनी योग्यताओं और अपनी पसन्द के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके और इसी प्रकार परिवार, क़बीले, बिरादरियाँ और विभिन्न समूह भी अपने से बड़े दायरे के भीतर इस स्वतन्त्रता से लाभान्वित हो सकें, जो उनके अपने कार्यक्षेत्र में उन्हें प्राप्त होनी आवश्यक है। परन्तु दूसरी ओर मानव-कल्याण ही इस बात की भी माँग करता है कि व्यक्तियों पर परिवार का, परिवारों पर क़बीलों का और बिरादरियों का और सारे लोगों और छोटी संस्थाओं पर सरकार का शासन हो, ताकि कोई अपनी सीमा का उल्लंघन करके दूसरों पर अत्याचार और अन्याय न कर सके। फिर यही प्रश्न आगे चलकर पूरी

मानवता के लिए भी पैदा होता है कि एक ओर प्रत्येक जाति और सरकार की स्वतन्त्रता व सम्प्रभुता का बना रहना भी आवश्यक है और दूसरी ओर किसी उच्चतर शक्ति का होना भी आवश्यक है कि ये शक्तियाँ और हुकूमतें अपनी सीमा का उल्लंघन न कर सकें।

अब सामाजिक न्याय जिस चीज़ का नाम हैं वह यह है कि व्यक्तियों, परिवारों, क़बीलों, बिरादरियों और जातियों में से प्रत्येक को उचित स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो और इसके साथ अत्याचार और ज़्यादती को रोकने के लिए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को व्यक्तियों पर और एक-दूसरे पर अधिकार भी प्राप्त रहे, और विभिन्न व्यक्तियों और समूहों से वे सेवा भी ली जा सकें जो सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं।

पूँजीवाद और समाजवाद की त्रुटियाँ

इस वास्तविकता को जो अच्छी तरह समझ लेगा वह पहली ही नज़र में जान लेगा कि जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उदारता, पूँजीवाद और धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र की वह व्यवस्था न्याय के विपरीत थी, जो फ्रांस की क्रान्ति के परिणामस्वरूप स्थापित हुई थी, ठीक इसी प्रकार बल्कि इससे भी अधिक वह समाजवाद भी इसके बिल्कुल विरुद्ध है जो कार्ल मार्क्स और ऐंगिल्स की धारणाओं के अनुसरण में अपनाई जा रही है। पहली व्यवस्था का दोष यह था कि उसने व्यक्ति को उचित सीमा से अधिक स्वतन्त्रता देकर परिवार, क़बीले, बिरादरी, समाज और जाति पर अन्याय करने की खुली छूट दे दी और उससे सामाजिक कल्याण की सेवा लेने के लिए समाज की नियन्त्रण-शक्ति को बहुत ढीला कर दिया। और इस दूसरी व्यवस्था का दोष यह है कि यह हुकूमत को अत्यधिक शक्ति देकर व्यक्तियों, परिवारों, क़बीलों और बिरादरियों की स्वतन्त्रता को लगभग पूर्ण रूप से समाप्त कर देती है और व्यक्तियों से समाज की सेवा लेने के लिए हुकूमत को इतनी अधिक शक्ति देती है कि लोग जीवधारी इनसानों के बजाए एक मशीन के बेजान पुर्ज़ों की हैसियत अपना लेते हैं। बिल्कुल झूठ कहता है वह, जो कहता है कि इस ढँग से सामाजिक न्याय स्थापित हो सकता है।

समाजवाद सामूहिक अत्याचार की चरम सीमा है

वास्तव में समाजवाद सामूहिक अत्याचार का वह सबसे बुरा रूप है जो कभी किसी नमरूद, किसी फ़िरऔन और किसी चंगेज़ ख़ाँ के काल में भी न रहा था। आख़िर इस चीज़ को कौन बुद्धिमान सामाजिक न्याय का नाम दे सकता है कि एक व्यक्ति या कुछ लोग बैठकर अपना एक सामाजिक दर्शन गढ़ लें, फिर हुकूमत पर ज़बरदस्ती अधिकार करके और उसके असीम अधिकारों से काम लेकर इस दर्शन को एक पूरे देश के रहनेवाले करोड़ों लोगों पर ज़बरदस्ती थोप दें, लोगों की सम्पत्तियों पर क़ब्ज़ा करें, ज़मीनों पर क़ब्ज़ा करें, कारख़ानों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाएँ और पूरे देश को एक ऐसे बन्दीगृह में परिवर्तित कर दें जिसमें आलोचना, फ़रियाद, शिकायत, अपीलें और अदालती न्याय का हर द्वार लोगों के लिए बन्द हो, देश में कोई दल न हो, कोई संगठन न हो, कोई प्लेटफ़ार्म न हो जिस पर लोग ज़बान खोल सकें, कोई पुलिस न हो जिसमें लोग अपने विचार प्रकट कर सकें और कोई अदालत न हो जिसका द्वार न्याय के लिए खटखटा सकें। जासूसी की व्यवस्था इतने बड़े पैमाने पर फैला दी जाए कि हर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से डरने लगे कि कहीं यह जासूस न हो, यहाँ तक कि आदमी अपने घर में भी मुँह खोलने से पहले चारों ओर देख ले कि कोई कान उसकी बात सुनने और कोई ज़बान उसे हुकूमत तक पहुँचाने के लिए पास मौजूद न हो। फिर प्रजातन्त्र का धोखा देने के लिए चुनाव कराए जाएँ, परन्तु पूरा प्रयत्न किया जाए कि इस दर्शन से मतभेद रखनेवाला कोई व्यक्ति इस चुनावों में भाग न ले सके, और न कोई ऐसा व्यक्ति उनमें भागीदार हो सके जो स्वयं अपनी कोई राय भी रखता हो और अपनी अन्तरात्मा को बेचनेवाला भी न हो।

काल्पनिक रूप से यदि इस ढँग से आर्थिक सम्पत्ति समान रूप से वितरित हो भी सके, यद्यपि आज तक कोई समाजवादी व्यवस्था ऐसा नहीं कर सकी है, तब भी क्या न्याय मात्र आर्थिक समानता का नाम है? मैं यह प्रश्न नहीं करता कि इस व्यवस्था के शासकों और प्रजा के बीच भी आर्थिक समानता है या नहीं? मैं यह भी नहीं पूछता कि इस व्यवस्था का डिक्टेटर और इसके अन्दर रहनेवाला एक किसान क्या अपने जीवन-स्तर में समान

हैं? मैं केवल यह पूछता हूँ कि यदि इन सबके बीच वास्तव में पूरी आर्थिक समानता स्थापित भी हो जाए, तो क्या इसका नाम सामाजिक न्याय होगा? क्या न्याय यही है कि डिक्टेटर और उसके साथियों ने जो दर्शन गढ़ा है उसको तो वे पुलिस और फ़ौज और जासूसी व्यवस्था की शक्ति से बलपूर्वक सारे समाज पर थोप देने में भी स्वतन्त्र हो। परन्तु समाज का कोई व्यक्ति उसके दर्शन-सिद्धान्त या उसके लागू करने के किसी छोटे-से-छोटे आंशिक व्यवहार पर मात्र ज़बान से एक शब्द निकालने तक के लिए स्वतन्त्र न हो? क्या यह न्याय है कि डिक्टेटर और उसके कुछ मुट्ठी भर हिमायती अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए देश के सारे साधन व स्रोत प्रयोग करने और हर प्रकार की संस्थाएँ बनाने के अधिकारी हों, परन्तु इनसे अलग राय रखनेवाले दो व्यक्ति भी मिलकर कोई संगठन न बना सकें, किसी समूह को सम्बोधित न कर सकें, और किसी प्रेस में एक शब्द भी प्रकाशित न करा सकें? क्या यह न्याय है कि सारे ज़मींदारों और कारख़ानों के मालिकों को बेदख़ल करके पूरे देश में केवल एक ही ज़मींदार और कारख़ाने का मालिक रह जाए जिसका नाम 'हुकूमत' हो, और वह हुकूमत कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के हाथ में हो और वे लोग ऐसी सारी युक्तियाँ अपनाएँ जिनसे पूरी जाति बेबस हो जाए और हुकूमत के अधिकारों का उनके हाथ से निकलकर दूसरों के हाथों में चला जाना बिल्कुल असम्भव हो जाए? इनसान यदि केवल पेट का नाम नहीं है, और मानवीय जीवन यदि केवल आर्थिक आवश्यकताओं तक सीमित नहीं है, तो केवल आर्थिक समानता को न्याय कैसे कहा जा सकता है? जीवन के हर क्षेत्र में अत्याचार और ज़बरदस्ती लागू करके और मानवता की हर दिशा को कुंठित करके केवल आर्थिक सम्पत्ति के वितरण में लोगों को समान भी कर दिया जाए और स्वयं डिक्टेटर और उसके साथी भी अपने जीवन-स्तर में लोगों के बराबर होकर रहें, तब भी इस घोर अत्याचार के द्वारा यह समानता स्थापित करना सामाजिक न्याय नहीं माना जा सकता। बल्कि यह, जैसा कि अभी मैं आपसे कह चुका हूँ, वह सबसे बुरा सामाजिक अत्याचार है जिससे मानव-इतिहास कभी इससे पहले परिचित न हुआ था।

इस्लामी न्याय

अब मैं संक्षेप में आपको बताऊँगा कि इस्लाम में जिस चीज़ का नाम न्याय है, वह क्या है? इस्लाम में इस बात की कोई गुंजाइश नहीं है कि कोई व्यक्ति या इनसानों का कोई समूह मानवीय जीवन में न्याय का कोई सिद्धान्त और उसकी स्थापना की कोई विधि बैठकर स्वयं गढ़ ले और उसे बलपूर्वक लोगों पर लागू कर दे और किसी बोलनेवाली ज़बान को हरकत न करने दे। इस्लाम में किसी डिक्टेटर के लिए कोई स्थान नहीं है। केवल अल्लाह को ही यह मक़ाम है कि इनसान उसके आदेश के आगे बिना झिझक सिर झुका दे। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल०) स्वयं भी उसके आदेश के अधीन थे और रसूल (सल्ल०) के आदेश का पालन करना इसलिए अनिवार्य है कि वे ख़ुदा की ओर से आदेश देते थे, न कि अपनी ओर से गढ़कर कोई सिद्धान्त लाते थे। रसूल (सल्ल०) और उनके साथियों की शासन व्यवस्था में सिर्फ़ अल्लाह का क़ानून आलोचनामुक्त प्रमाण था। उसके बाद प्रत्येक व्यक्ति को हर समय हर मामले में बोलने का पूरा अधिकार प्राप्त था।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सीमाएँ

इस्लाम में अल्लाह तआला ने स्वयं वे सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं जिनमें लोगों की स्वतन्त्रता को सीमित होना चाहिए। उसने स्वयं निश्चित कर दिया है कि एक मुस्लिम के लिए कौन-कौन से काम हराम हैं, जिनसे उन्हें बचना चाहिए और क्या कुछ उसपर फ़र्ज़ है जिसे उसे अदा करना चाहिए। उसके दूसरों पर क्या अधिकार हैं और दूसरों के उसपर क्या अधिकार हैं। किन साधनों से किसी वस्तु का स्वामित्व प्राप्त करना उसके लिए जायज़ है और कौन-से साधन ऐसे हैं जिनसे प्राप्त धन का स्वामी बनना जायज़ नहीं है।

लोगों की भलाई के लिए समाज के क्या कर्तव्य हैं और समाज की भलाई के लिए लोगों पर, परिवारों और बिरादरियों पर और पूरी जाति पर क्या पाबन्दियाँ लागू की जा सकती हैं और क्या सेवाएँ अनिवार्य की जा सकती हैं। ये सारी बातें क़ुरआन व सुन्नत के उस स्थाई विधान में दर्ज हैं जिनका कोई संशोधन या उलट-फेर करनेवाला कोई नहीं है और जिनमें

किसी को कुछ कमी व बेशी करने का कोई अधिकार नहीं है। इस दस्तूर (विधान) के अनुसार एक व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं पर जो पाबन्दियाँ लगाई गई हैं उनका उल्लंघन करने का तो उसे अधिकार नहीं है, परन्तु उन सीमाओं के अन्दर जो स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है उसे निरस्त करने और छीनने का अधिकार भी किसी को नहीं है। धन कमाने के जिन साधनों और धन ख़र्च करने की जिन विधियों को हराम (वर्जित) कर दिया गया है, वह उनके समीप भी नहीं फटक सकता और फटके तो इस्लामी क़ानून उसे दण्ड के योग्य समझता है, परन्तु जो साधन हलाल (वैध) ठहराए गए हैं, उनसे प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति पर उसके अधिकार सुरक्षित हैं और उसमें ख़र्च करने के जो ढँग जायज़ किए गए हैं उनसे उसे कोई वंचित नहीं कर सकता। इसी प्रकार समाज के हित के लिए जो कर्तव्य लोगों पर लागू किए गए हैं उनको पूरा करने को तो वह विवश है। परन्तु उससे अधिक कोई भार बलपूर्वक उसपर लादा नहीं जा सकता, सिवाए इसके कि वह स्वयं अपनी इच्छा से ऐसा करे। और यही स्थिति समाज और राज्य की भी है कि लोगों के जो हक़ उसके ज़िम्मे हैं उन्हें पूरा करना उतना ही आवश्यक है जितना लोगों से अपने हक़ प्राप्त करने के उसे अधिकार हैं। इस स्थाई नियम को यदि व्यावहारिक रूप से लागू कर दिया जाए तो ऐसा सर्वांग सामाजिक न्याय स्थापित होता है जिसके पश्चात् किसी चीज़ की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। यह नियम जब तक मौजूद है उस समय तक कोई व्यक्ति चाहे कितना ही प्रयत्न करे, मुसलमानों को कदापि इस धोखे में नहीं डाल सकता कि जो समाजवाद उसने किसी स्थान से उधार लिया है वही वास्तविक इस्लाम है या 'इस्लामी समाजवाद' है।

इस्लाम के इस नियम में व्यक्ति और समाज के बीच ऐसा सन्तुलन स्थापित किया गया है कि न व्यक्ति को वह स्वतन्त्रता दी गई है कि वह समाज के हित को क्षति पहुँचा सके और न समाज को ये अधिकार दिए गए हैं कि वह व्यक्ति से उसकी वह स्वतन्त्रता छीन सके जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है।

सम्पत्ति स्थानान्तरण की शर्तें

इस्लाम एक व्यक्ति की ओर सम्पत्ति के स्थानान्तरण के सिर्फ़ तीन प्रकार निर्धारित कर देता है। विरासत, दान और कमाई। विरासत या उत्तराधिकार वह वैध तरीक़ा है जो किसी सम्पत्ति के जायज़ मालिक से उसके वारिस को इस्लामी नियमानुसार पहुँचता है। दान या अनुदान वह वैध तरीक़ा है जो किसी सम्पत्ति के जायज़ मालिक ने इस्लामी सीमाओं के अन्दर दिया हो। यदि यह दान किसी हुकूमत की ओर से है तो वह तभी जायज़ है जबकि वह किसी सही सेवा के बदले में या सामाजिक हित के लिए हुकूमत की सम्पत्ति में से यथोचित रूप से दिया गया हो। जबकि इस प्रकार का अनुदान देने का अधिकारी वह हुकूमत है, जो इस्लामी क़ानून के अनुसार परामर्श की विधि से चलाई जा रही हो और जिससे हिसाब-किताब लेने का जनता को पूरा अधिकार हो। रही कमाई, तो इस्लाम में सिर्फ़ वह कमाई जायज़ है जो किसी हराम विधि से न हो। चोरी, नाजायज़ क़ब्ज़ा, नाप-तौल में कमी-बेशी, घोटाला, रिश्वत, ग़बन, बदचलनी, मूल्य बढ़ाने के लिए आवश्यक वस्तुएँ रोकना, ब्याज, जुआ, धोखे का सौदा, नशे की वस्तुओं की खेती और व्यापार और व्यभिचार को बढ़ावा देनेवाले व्यापार के द्वारा धन कमाना इस्लाम में हराम है। इन सीमाओं का पालन करते हुए जो धन भी किसी को मिले वह उसकी जायज़ सम्पत्ति है, चाहे वह कम हो या अधिक। ऐसी सम्पत्ति के लिए, कमी की कोई सीमा निर्धारित की जा सकती है और न अधिकता की। न उसका कम होना इस बात को जायज़ करता है कि दूसरों से छीनकर उसमें बढ़ोत्तरी की जाए और न इसका अधिक होना इस बात की दलील है कि उसे ज़बरदस्ती कम किया जाए। परन्तु जो धन इन सीमाओं का उल्लंघन करके प्राप्त हुआ हो उसके बारे में यह प्रश्न उठाने का मुसलमानों को अधिकार है कि यह तुझे कहाँ से प्राप्त हुआ?

इस धन के विषय में पहले क़ानूनी छानबीन होनी चाहिए, फिर यदि यह प्रमाणित हो जाए कि वह जायज़ विधि से प्राप्त नहीं हुआ है तो उसे ज़ब्त करने का इस्लामी हुकूमत को पूरा अधिकार प्राप्त है।

सम्पत्ति–उपभोग पर पाबन्दियाँ

जायज़ (वैध) विधि से प्राप्त होनेवाले धन के उपभोग के सम्बन्ध में भी व्यक्ति को बिल्कुल खुली छूट नहीं दे दी गई है, बल्कि उसपर कुछ क़ानूनी पाबन्दियाँ लागू कर दी गई हैं, ताकि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति में से किसी ऐसी विधि से ख़र्च न कर सके जो समाज के लिए हानिकारक हो, या जिसमें स्वयं उस व्यक्ति के धर्म व चरित्र की हानि होती हो। इस्लाम में कोई व्यक्ति अपने धन को फ़ुज़ूलख़र्ची और बुराइयों में ख़र्च नहीं कर सकता। शराब पीने और जुआ खेलने का हर द्वार उसके लिए बन्द है। व्यभिचार का द्वार भी उसके लिए बन्द है। वह स्वतन्त्र मनुष्यों को पकड़कर उन्हें दास-दासियाँ बनाने और उनको बेचने और ख़रीदने का भी किसी को अधिकार नहीं देता कि धनवान लोग अपने घरों को ख़रीदी हुई दासियों से भर लें। फ़ुज़ूलख़र्ची और सीमा से अधिक ऐश करने पर भी प्रतिबन्ध लगाता है और वह इसे भी जायज़ नहीं रखता कि तुम स्वयं ऐश करो और तुम्हारा पड़ोसी रात को भूखा सोए। इस्लाम केवल क़ानूनी और व्यवहार-सुलभ ढँग पर ही धन से लाभ उठाने का आदमी को अधिकार देता है और यदि आवश्यकता से अधिक धन को कोई व्यक्ति और अधिक धन कमाने के लिए प्रयोग करना चाहे तो वह धन कमाने के हलाल ढँग को ही अपना सकता है। उन सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता जो क़ानून ने धनोपार्जन के लिए निश्चित कर दी है।

सामाजिक सेवा

फिर इस्लाम समाज की सेवा के लिए हर उस व्यक्ति पर जिसके पास निसाब (ज़कात के लिए धन की निर्धारित सीमा) से अधिक माल हो, ज़कात निश्चित करता है। वह व्यापारिक धन पर, ज़मीन की पैदावार पर, पशुओं पर और कुछ दूसरे धनों पर भी एक निश्चित दर से ज़कात निर्धारित करता है। आप विश्व के किसी देश को ले लीजिए और हिसाब लगाकर देख लीजिए कि यदि इस्लामी नियमानुसार वहाँ ज़कात वसूल की जाए और उसे क़ुरआन के निर्धारित किए हुए विभागों में नियमानुसार वितरित किया जाए तो क्या कुछ वर्षों के भीतर वहाँ एक व्यक्ति भी जीवन की मौलिक

आवश्यकताओं से वंचित रह सकता है?

उसके बाद जो धन किसी व्यक्ति के पास एकत्र हो गया है, इस्लाम उसकी मौत के बाद उस धन को विरासत में वितरित कर देता है, ताकि यह एकत्रित धन एक स्थाई और अटल भण्डार बनकर न रह जाए।

अत्याचार का उन्मूलन

इसके अलावा इस्लाम यद्यपि इसको पसन्द करता है कि ज़मीन के मालिक और किसान या कारख़ाने के मालिक और मज़दूर के बीच आपसी सहमति से सामान्य रीति से मामले तय हों और क़ानून के हस्तक्षेप की ज़रूरत न पड़े। परन्तु जहाँ कहीं मामलों में अत्याचार हो रहा हो वहाँ इस्लामी शासन हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार रखता है और क़ानून के द्वारा न्याय की सीमाएँ निर्धारित कर सकता है।

लोक-कल्याण हेतु राष्ट्रीय सम्पत्ति की सीमाएँ

इस्लाम इस बात को हराम नहीं करता कि किसी उद्योग या व्यापार को सरकार अपने प्रबन्ध से चलाए। यदि कोई उद्योग या व्यापार ऐसा हो जिसकी लोक-कल्याण के लिए आवश्यकता तो हो परन्तु लोग उसे चलाने के लिए तैयार न हों, या लोगों के प्रबन्ध से उसका चलना सामाजिक हित के विरुद्ध हो, तो उसे सरकार के प्रबन्ध से चलाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई उद्योग या व्यापार कुछ लोगों के हाथों में ऐसे ढँग से चल रहा हो जो सामाजिक हित को क्षति पहुँचाए तो सरकार उन लोगों को मुआवज़े देकर वह प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकती है और किसी दूसरे उचित ढँग से उसे चलाने का प्रबन्ध कर सकती है। इन युक्तियों को अपनाने से इस्लाम मना नहीं करता। परन्तु इस्लाम इस बात को एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं करता कि सम्पत्ति के सारे साधन सरकार के हाथ में हों और सरकार ही देश का एकमात्र उद्योगपति और व्यापारी तथा भूस्वामी हो।

बैतुलमाल (धनकोष) के उपभोग की शर्तें

बैतुलमाल के सम्बन्ध में इस्लाम का यह सुस्पष्ट नियम है कि वह

अल्लाह और मुसलमानों का माल है, किसी व्यक्ति को उसका स्वामी बनकर उपभोग करने का अधिकार नहीं है। मुसलमानों के सारे कामों की भाँति बैतुलमाल का प्रबन्ध भी मुस्लिम समुदाय या उसके स्वतन्त्र प्रतिनिधियों के परामर्श से होना चाहिए। जिस व्यक्ति से भी कुछ लिया जाए, और जिस काम में भी धन ख़र्च किया जाए वह जायज़ इस्लामी क़ानून के अनुसार होना चाहिए और मुसलमानों को इसका हिसाब लेने का पूरा अधिकार है।

एक प्रश्न

इस बात को समाप्त करते हुए मैं प्रत्येक सोचनेवाले इनसान से यह प्रश्न करता हूँ कि सामाजिक न्याय केवल आर्थिक न्याय ही का नाम है तो क्या यह आर्थिक न्याय जो इस्लाम स्थापित करता है, हमारे लिए पर्याप्त नहीं है? क्या इसके बाद कोई ऐसी आवश्यकता शेष रह जाती है जिसके लिए सारे लोगों की स्वतन्त्रता छीनना, लोगों की सम्पत्ति ज़ब्त करना और एक पूरे राष्ट्र को कुछ व्यक्तियों का दास बना देना ही अनिवार्य हो? आख़िर इस बात में क्या चीज़ बाधक है कि हम मुसलमान अपने देशों में इस्लामी नियम के अनुसार शुद्ध इस्लामी हुकूमतें स्थापित करें और उनमें ख़ुदा की पूरी शरीअत (विधान) को बिना काट-छाँट के लागू कर दें। जिस दिन भी हम ऐसा करेंगे, केवल यही नहीं कि हमें समाजवाद से प्रेरणा प्राप्त करने की कोई आवश्यकता शेष न रहेगी, बल्कि स्वयं समाजवादी देशों के लोग हमारी जीवन-व्यवस्था को देखकर यह अनुभव करने लगेंगे कि जिस प्रकाश के बिना वे अन्धकार में भटक रहे थे वह उनकी आँखों के सामने उपस्थित है।

■■